परिषद् निबन्धावली

द्वितीय भाग

[प्रयाग विश्व विद्यालय हिन्दी परिषद् में, हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों पर, पढ़े गये विवेचनात्मक निबन्ध]

सम्पादक

श्रीयुत धीरेन्द्र वर्मा एम्० ए०

[अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, प्रयाग विश्व-विद्यालय]

प्रकाशक

साहित्य मन्दिर, दारागंज, प्रयाग

प्रथम बार

सन् १९३१

मूल्य सादी का १)
सजिल्द १।)

भूमिका

रिषद्-निबन्धावली का दूसरा भाग हिन्दी प्रेमियों के सामने
है। प्रस्तुत पुस्तक में प्रयाग विश्व-विद्यालय-हिन्दीपरिषद्
२८-३० में पढ़े गये कुछ निबन्ध संगृहीत हैं। शेष निबन्धों
कुछ कई कठिनाइयों के कारण दूसरे भाग में सम्मिलित
ये जा सके। ये निबंध संभवतः भाग ३ में प्रकाशित किये
होंगे।

रिषद्-निबन्धावली भाग १ के स्वागत से उत्साहित होकर
रिषद् ने भाग २ हिन्दी प्रेमियों के सामने रखने का साहस
है। परिषद् को विश्वास है कि पारखी हिन्दीप्रेमी इस
ा भी हृदय से स्वागत करेंगे। इन निबंधों की छपाई
की समस्त देख भाल श्री रामकुमार वर्मा एम० ए० ने
। अतः वे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

धीरेन्द्र वर्मा



परिषद् निबन्धावली

द्वितीय भाग

[१९२८-२९ १९२९-३०]



ारिषद्-निबन्धावली

द्वितीय भाग

मीराबाई की जीवनी

और

कविता पर कुछ विचार

मीराबाई की जीवनी, भक्तमाल के इतिहास में, जीवनी [illegible] एक विचित्र कहानी है। इसमें लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकार की बातों का समावेश है। [illegible]

से सम्बन्ध होने पर भी वे उससे विरक्त थीं, और भक्त होने के साथ-साथ कवि थीं। उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य गिरिधर के प्रेमका कीर्तन करना था, मानों भक्त की भावुकता और कवि की रसिकता मीरा के स्वरूप में प्रादुर्भूत हुई थी। परन्तु जिस समय हम उसी मीरा के विषय में कुछ लिखने का प्रयास करते हैं, उसी समय हमारे सामने बाधाओं का एक बडा पहाड आकर खडा हो जाता है। इसका कारण प्रामाणिक सामग्री का अभाव है।

साधन — किसी लेखक के विषय में कुछ जानने के केवल दो साधन हैं - आन्तरिक और बाह्य। मीरा की कृति-स्वरूप हमें केवल थोडे से पद, कई पुस्तकों में सग्रहीत, मिलते हैं। ये पद प्रधानत उनकी प्रगाढ भक्ति के प्रदर्शक हैं और केवल गौण रूप से उनकी जीवनी पर प्रकाश डालते हैं।*

बाह्य साधन दो प्रकार के हैं—तत्कालीन एव आधुनिक। इनके विषय में यद्यपि कोई तत्कालीन ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता,† पर भक्त-ग्रथों में इनका उल्लेख कई बार हुआ है।

---

* शब्दावली—पृ० २६ शब्द ५९; पृ० ६७ शब्द ३२, पृ० ६५ शब्द २६, पृ० २५ शब्द ५९, पृ० ३७-३८ शब्द १-२, पृ० ५३ श० ४ आदि।

† तुजुक बाबरी, आइने अकबरी, मुहणोत नैणसी की ख्यात (पृ० ३६८) (पृ० ५७३) (पृ० ४७)

नाभादास ने अपने भक्तमाल* में इनके प्रेम की महिमा पर एक पद लिखा, तो उनके टीकाकार प्रियादास ने जन्मभूमि, श्वसुर-गृह के कष्ट, अकबर से भेंट आदि दन्त-कथाओं का पूरा ब्योरा ही लिख डाला। मूल गोसाईं-चरित में तुलसी को पत्रिका भेजने का उल्लेख है, तो 'वैष्णवन की वार्ताओं'[१] में श्रीआचार्यजी की सेविका न बनने के कारण उनकी निन्दा करा डाली गई है। अस्तु, इन ग्रंथों की सहायता सावधानी से लेनी चाहिए।

आधुनिक उल्लेखों में टाड "राजस्थान,"* मुं० देवीप्रसाद-रचित "श्रीमीराबाई का जीवन चरित्र", गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखित "उदयपुर राज्य का इतिहास"+ तथा कविराजा

---

* भक्तमाल पृ० ६९४-७०४; Selections by L. Sita Ram Book II p 336 ff

१ नागरी प्र० पत्रिका भाग ७ सं० १९८३ पृ० ३७५ व ३०७

२ चौरासी वैष्णवन की वार्ता सं० ५४ पृ० २०७ ८; सं० ९३ पृ० ३४२ ३८, ' सं० ४३ पृ० १६३ १६३, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता—सं० ३० पृ० ६४ ६९; सं० ४८ पृ० १०९ व; पृ० ४३४ ३५

* टाड राजस्थान (कलक० सं०) भाग १ पृ० ३३७, भाग २ पृ० ७५३; भाग ३ पृ० १८१८

+ पृ० ७३; ७३; ३३० ३१; ३३७; ३५८ ६० और पृ० ३५९; पृ० ३३९

श्यामलदास एवं हरविलास शारदा के लेख* प्रधान साधन हैं। जनश्रुति तथा चारण गाथाओं के आधार पर होने के कारण "राजस्थान" इतना विश्वसनीय नहीं है, जितने इन वर्तमान ऐतिहासिक विद्वानों के उल्लेख, जो इतिहास-सम्बन्धी सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री के आधार पर बड़ी खोज के साथ लिखे गये हैं। अन्य लेखकों† ने इन्हीं प्राचीन अथवा अर्वाचीन साधनों के आधार पर लिखा है। उनका उल्लेख करना केवल साधनों की नामावली बढाना होगा।

---

* हरविलास शारदा कृत 'महराना सागा' पृ० ९५-९६ नोट | क० श्यामलदास कृत 'वीर-विनोद'

† ध्रुवदास शारदा कृत "भक्तनामावली" '(L Sita Rams selections Book II), शिवसिंह "सरोज" पृ० ४७५, कार्तिक-प्रसाद खत्री कृत "मीराबाई का जीवन चरित्र", मु० उवेदुल्लाखां फर्हती कृत "तारीख तुहफए राजस्थान", जगदीशसिंह गहलोत "मारवाड़ का इतिहास', ग्रियर्सन "माडर्न वर्नाकुलर लिट्रेचर" पृ० १२, फ्रेजर "लिट्रेरी हिस्ट्री आफ इण्डिया" पृ० ३३७-३३८, की (keay) "हिन्दी-लिट्रेचर पृ० २९, ग्रीव्ज पृ० ४६, मिश्रबन्धु "विनोद" पृ० २६२-६६, "काव्यदोहन भाग ७ पृ० १-५३ (मीराबाई), सीतारामशरण रूपकला 'मीराबाई की जीवनी", शिवनन्दनसहाय "श्रीगोस्वामी तुलसीदास पृ० ११०-११६, "सतीमंडल" भाग ७ पृ० १४०-१४८ (K V Trivedi), "Wilson's Religious Sects of the Hindus'

मीरा के विषय में किसी बात की जाँच करने के लिए ये साधन ही एक मात्र सच्ची कसौटी हैं।

मीराबाई के विषय में मुख्य भ्रान्ति उनके जीवन काल जन्मकाल पर है।* चित्तौड़ में, कीर्तिस्तम्भ के पास, कुम्भ स्वामी

---

p 138, Encyclopedia of Religion and Ethics Vol 2 p 5466, Macnicol's "Indian Theism" p 133, K. M. Jhaveri's Milestones in Gujrati Literature p 28 [illegible] and p 108, "The Sikh Religion" Vol VI p 342 (Reproduction of M. Macauliffe's articles in the Indian Antiquary 1903) 'East & West' (August 1910 p 728) "सुधा" (फाल्गुन सं० १९८४), 'माधुरी' (चैत्र सं० १९८४) '[illegible]' (१९८३, १९८५ १९८९) [illegible] पृ० ११४ Meerabai her life and Songs (Vishva Bharati Jan [illegible] 1929 131) आदि

* १ राव [illegible], सं० १४७० १४९९ के बीच में; कुंभा की पुत्री—कुम्भ की रानी।

२ शिवसिंह तथा ग्रियर्सन [illegible] सं० १४७० विवाह सं० १४७५ पति मृत्यु; [illegible] की पुत्री—कुम्भ की रानी।

३ कार्तिकप्रसाद सं० १५०५ जन्म, [illegible] की पुत्री—कुम्भ की रानी।

४ [illegible] सं० १५१०–१५६० के बीच में कुम्भा के [illegible]

५ [illegible] सं० १५६० जन्म सं० १५७५ विवाह सं० १५८० मृत्यु; [illegible] की पुत्री; [illegible] कुम्भ की रानी

आदि-वराह के दो विष्णुमन्दिर, एक ही ऊंची कुर्सी पर, पास-पास बने हुए हैं। लोगों में यह प्रसिद्धि हो गई है कि बड़ा मन्दिर महाराना कुम्भ ने और छोटा उनकी रानी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीराबाई को महाराना कुम्भ की रानी लिख दिया है, जो भ्रमपूर्ण है। सम्भवत मीरा इस मन्दिर में पूजन-कीर्तन करती रही होंगी। कुम्भश्याम (कुम्भस्वामी) का मन्दिर, जिसे लोग भ्रम से 'मीराबाई का मन्दिर" कहते हैं, स० १५०५ में महाराना कुम्भ ने बनवाया था। उनमें उक्त संवत् की यह प्रशस्ति है—

"कुम्भस्वामिन आलयं व्यरचयच्छ्रीकुम्भकर्णो नृप †"

इस प्रकार एक मात्र पक्के प्रमाण को, जिस पर टाड साहब

६ हरिश्चन्द्र स० १६२० —३० मृत्यु।

७ तपस्वीरामजी स० १६४५ मृत्यु, रत्नसेन पुत्री—भोजपत्नी।

८ देवीदास, श्यामलदास, सारदा तथा ओझा जी स० १५५५-१६०३ के बीच, रत्नसिह पुत्री—भोजपत्नी

९ मिश्रबन्धु तथा ग्रोवज जन्म स० १५७३, रत्नसिह पुत्री भोजराज पत्नी।

१० मेकालिफ प्रभृति स० १५६१-१६०३, रत्नसिहपुत्री—भोजराज-पुत्री।

११ अमाथनाथ बसु

† उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृ० ५१, पृ० ३१०, पृ०

का मत निर्भर था, वास्तुकला विशारदों ने निर्मूल सिद्धकर दिया है। यदि टॉड साहब ने यह प्रशस्ति पढ़ ली होती, तो आज मीरा के जन्मकाल पर अनेक मत न होते।

साथ ही अन्य उपलब्ध साधनों से भी उन्होंने सहायता नहीं ली जान पड़ती, क्योंकि मीरा ने अपना परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है—

"मेड़तिया घर जनम लियो है मीरा नाम कहायो"* ।

मीरा की इस पंक्ति से उनके जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। राठौड़ों की प्रसिद्ध मेड़तिया शाखा के जन्मदाता, राजस्थान के प्रसिद्ध नगर जोधपुर के संस्थापक राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र राव दूदाजी थे, जिनका जन्म सं० १४९७ में हुआ था। राव दूदाजी बड़े पराक्रमी थे। उन्होंने निज बाहुबल द्वारा सं० १५१८ में मेड़ते में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर मेड़तिया शाखा चलाई।[1] अतएव मेड़तिया जी का जन्म सं०

[illegible]

* [illegible] पृ० [illegible]

नोट—मीरा के [illegible] में मेड़तिया [illegible] जी कहते थे, जिसका अर्थ है कि वह [illegible] की बेटी थी। [illegible] में [illegible] किया गया है, [illegible]।

[1] [illegible] का इतिहास ([illegible]) [illegible] (सं० १९८४) [illegible] (भाग १ पृ० ११४)

आदि-वराह के दो विष्णुमन्दिर, एक ही ऊंची कुर्सी पर, पास-पास बने हुए हैं। लोगों में यह प्रसिद्धि हो गई है कि बडा मन्दिर महाराना कुम्भ ने और छोटा उनकी रानी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीराबाई को महाराना कुम्भ की रानी लिख दिया है, जो भ्रमपूर्ण है। सम्भवत मीरा इस मन्दिर में पूजन-कीर्तन करती रही होंगी। कुम्भश्याम (कुम्भस्वामी) का मन्दिर, जिसे लोग भ्रम से 'मीराबाई का मन्दिर" कहते हैं, स० १५०५ में महाराना कुम्भ ने बनवाया था। उनमे उक्त संवत् की यह प्रशस्ति है—

"कुम्भस्वामिन आलय व्यरचयच्छ्रीकुम्भकर्णो नृप †"

इस प्रकार एक मात्र पक्के प्रमाण को, जिस पर टाड साहब

---

६ हरिश्चन्द्र स० १६२० –३० मृत्यु।

७ तपस्वीरामजी स० १६४५ मृत्यु, रत्नसेन पुत्री—भोजपत्नी।

८ देवीदास, श्यामलदास, सारदा तथा ओझा जी स० १५५५-१६०३ के बीच, रत्नसिंह पुत्री—भोजपत्नी।

९ मिश्रबन्धु तथा मीरज जन्म स० १५७३, रत्नसिंह पुत्री भोजराज पत्नी।

१० मेकालिफ प्रभृति स० १५६१-१६०३, रत्नसिंहपुत्री—भोजराज-पुत्री।

११ अनाथनाथ वसु

† उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृ० ५१, पृ० ३१०, पृ०

का मत निर्भर था, वास्तुकला विशारदों ने निर्मूल सिद्धकर दिया है। यदि टॉड साहब ने यह प्रशस्ति पद ली होती, तो आज मीरा के जन्मकाल पर अनेक मत न होते।

साथ ही अन्य उपलब्ध साधनों से भी उन्होंने सहायता नहीं ली जान पडती, क्योंकि मीरा ने अपना परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है—

"मेड़तिया घर जनम लियो है मीरा नाम कहायो"* ।

मीरा की इस पंक्ति से उनके जीवन पर पर्य्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। राठौड़ों की प्रसिद्ध मेड़तिया शाखा के जन्मदाता, राजस्थान के प्रसिद्ध नगर जोधपुर के संस्थापक राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र राव दूदाजी थे, जिनका जन्म सं० १४९४ में हुआ था। राव दूदाजी बड़े पराक्रमी थे। उन्होंने निज बाहुबल द्वारा सं० १५१८ में मेड़ते में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर मेड़तिया शाखा चलाई।[1] अतएव मेड़तिया जी का जन्म सं० १५८०-१० [illegible]

* शब्दावली पृ० ६० शब्द १

नोट—[illegible] में [illegible] का [illegible] कहते थे, जिसका अर्थ है कि वे मेड़तिये राठौड़ों के वंशज थे। [illegible] में यह [illegible] के नाम से [illegible] किया जाता है, यथा [illegible], [illegible] या [illegible]।

[1] मारवाड़ का इतिहास (ग्रन्थकार [illegible]) तथा ([illegible] सं० १९८७) भा० प्र० [illegible] (भाग १ पृ० ११४)

१५१८ मे, या उनके बाद हुआ होगा। महाराना कुम्भ सं० १५-२५ में अपने पुत्र ऊदा के हाथ से मारे गये। तो क्या मीरा का विवाहादि सब ७ वर्ष के भीतर ही समाप्त हो गया ? फिर उन्होंने कुम्भश्याम का मन्दिर, जिसका निर्माण-काल स ० १५०५ निश्चित हो चुका है, कब बनवाया होगा, जब कि उनके माने जानेवाले पिता (दूदा जी) का जन्म स ० १४८७ में हुआ था †

टाड साहब के मतानुसार मीरा को कुम्भ की रानी मानने में और भी कई कठिनाइयां हैं। मीरा ने राणाजी द्वारा कष्ट दिये जाने का उल्लेख किया है। अतएव प्रश्न उठता है कि वे राणा कौन थे ?

कुम्भ स्वयं परम वैष्णव तथा कृष्णभक्त थे। उनके बनाये विष्णुमन्दिर तथा गीतगोविन्द की टीका ही इसके प्रचुर प्रमाण हैं। टीका के "श्रीगोविन्द पदारविन्द मकरन्द चचर्द्धिरेफेण" "हृदीश पर वासुदेव निधत्त" आदि प्रकरण उनकी कृष्ण-भक्ति के परिचायक हैं। अतएव उनका अपनी पत्नी को गिरिधरकी भक्ति से रोकना और उन्हे नाना प्रकार के कष्ट पहुचाना असगत प्रतीत होता है। तब फिर मीरा को किस राणा ने कष्ट दिये ? कुम्भ के पिता मोकलदेव ने, अथवा कुम्भ के उत्तरा-

† काव्यदोहन भाग ७, पृ० १५३ (भूमिका "मीराबाई")

धिकारी ऊदा ने।[1] मीरा के पिता दूदाजी का जन्म सं० १४९७ में हुआ था और युवराज कुम्भ पिता की मृत्यु के पश्चात्, सं० १४९० में, गद्दी पर बैठे।[1] इसका अभिप्राय यह है कि मीरा के माने जानेवाले पिता का जन्म, उनके माने जानेवाले पति के सिंहासनारूढ़ होने के भी ७ वर्ष पश्चात् हुआ। अतएव मीरा का युवराज कुम्भ से विवाह होना असम्भव है और मोकलदेव मीरा के वह ससुर नहीं हो सकते, जिनका उल्लेख मीरा ने किया है। वह ससुर वास्तव में कौन हो सकते हैं, यह हम आगे दिखायेंगे। अब रहा कुम्भके उत्तराधिकारी के विषय में, सो वे उनके पुत्र (न कि देवर) ऊदा (उदयकर्ण)। मीरा ने स्वयं देवर से कष्ट पाने का उल्लेख किया है। यदि यह बात हम सच मान लें, और जिसे झूठ मानने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता, तो यह सिद्ध ही है कि मीरा का विवाह कुम्भ से नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से ससुर और देवर दोनों मीरा के दोनों उल्लेख असत्य निर्धारित हो जाते हैं।[2] "टॉड" महाशय का यह मत कि कुम्भ के उत्तराधिकारी पुत्र भोज और ऊदा वे भाई थे, इतिहास-विरुद्ध है।[3] उन्होंने कल्पित यह कल्पना इसलिए की होगी कि ऐसा करने से यह प्रमाणित हो जायगा कि मीरा का विवाह भोज से हुआ और राणा कष्ट दिये

---

[1] महाराणा कुम्भ (शारदा)

[2] राजपूताना का इतिहास भाग १ पृ० ४३, पृ० ७०, पृ० ५८ ? (टिप्पणी)

[3] [illegible]

अवश्य दे दिया है।* सम्भवत इन उल्लेखो का मूल आधार राज्य के लेखों, वशावलियों, जन्म-पत्र तथा जनश्रुति पर होगा। आधार चाहे कुछ हो, कम से कम उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री से सहायता अवश्य ली गयी है, और अनुमान भी युक्तिसगत ही हैं। हमारी समझ में इस मत के मानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं दिखाई पडती। हाँ, स० १५५५ की अपेक्षा स० १५६० के आसपास जन्म होना अधिक युक्ति-सगत जान पड़ता है।

रत्नसिंह के ज्येष्ठ भ्राता वीरमदेव का जन्म स० १५३४ में दिया हुआ है।† और जब रत्नसिंहजी चतुर्थ पुत्र थे ‡ तो उनका जन्म स० १५३९-४० के लगभग हुआ होगा। यदि मीरा के जन्म के समय उनके पिता की आयु २० वर्ष की मान ली जाय, तो सं० १५६० के आसपास उनका जन्मकाल अपने आप निकल आता है। मीरा के पति भोजराज की आयु पर विचार करने से भी हम इसी निश्चय पर पहुँचते हैं। भोज के पिता महाराना सागा का जन्म स० १५३९ में हुआ था।¶ यदि भोजराज के जन्म के समय उनके पिता की आयु २० वर्ष की होगी, तो भोजराज का जन्म

---

* महाराना सागा (शारदा) पृ० ९५ ९६ फुटनोट

† ना० प्र० पत्रिका भाग १ पृ० १३४, सरस्वती (जनवरी १९१५)

‡ सुधा (फाल्गुन स० १०८४)

¶ महाराना सागा (शारदा) ना० प्र० प० भाग १ पृ० ११४

सं० १५५९ के लगभग होना चाहिए।" और यदि वह अपनी पत्नी से एक-दो वर्ष भी बड़े होंगे तो मीरा का जन्म सं० १५६० के लगभग निकल आता है।

प्रसिद्ध है कि मीराबाई ने अपनी सास की आज्ञा का उल्लंघन किया।† कदाचित् इसी कारण इन लोगों का यह अनुमान है कि विवाह के समय (सं० १५७३) मीरा की अवस्था १७-१८ वर्ष की रही होगी,‡ अन्यथा ऐसा होना यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। यह अनुमान कुछ असंगत ठहरता है। यदि भोजराज मीरा से एक-दो वर्ष बड़े होंगे तो (इस अनुमान के अनुसार) उनका जन्म सं० १५५२ के आसपास होना चाहिए जिसका अभिप्राय यह हुआ कि महाराना सांगा की १४ वर्ष (१५५३-१५३९) की अवस्था में ही भोजराज का जन्म हुआ होगा। नैणसी की ख्यात के अनुसार तो भोजराज ज्येष्ठ पुत्र भी न थे,* फलतः १४ वर्ष के और भी पहले राना सांगा के एक-दो सन्तानें हो चुकी होंगी, जो व्यवहार विरुद्ध प्रतीत होता है।

* नोट—नैणसी की ख्यात के अनुसार भी भोजराज ज्येष्ठ पुत्र था न था। फलतः व २० वर्ष [illegible] किसी की आयु में [illegible]

† राजपूताना० भाग १ पृ० ३०

‡ नोट—कुछ लोग राजपूत कन्याओं का अधिक आयु में विवाह होना [illegible] व्यवहारानुकूल न मानते हैं।

* पृ० ३०

मीरा का जन्म स० १५६० के आसपास मान लेने पर केवल एक आपत्ति होती है। इन लोगों के अनुमान के अनुसार मीरा की आयु विवाह के समय १७-१८ वर्ष की तथा पुत्र जन्म होने पर सागा की केवल १४ वर्ष की निकलती है और स० १५६० मान लेने पर मीरा की आयु १३ वर्ष तथा भोज के पिता की १९, २० वर्ष। हमारे विचार में स० १५६० ही के आसपास मीरा का जन्म हुआ होगा, क्योंकि १३ वर्ष की अवस्था मे विवाह होना इतना आश्चर्यजनक नहीं है, जितना कि प्रथम सतान के उत्पन्न होने पर पिता की आयु का १४ वर्ष होना, प्रत्युत कई लेखकों ने मीका विवाह ११ वर्ष ही में होना लिखा है।* कदाचित् इसी लिए मेकालिफ ने इनका जन्म स० १५६१ (1504 A C) के लगभग माना है।† मिश्रबन्धुओं तथा ग्रीनज ने भूल से विवाह-तिथि (स० १५७३) को जन्म तिथि माना है।‡ भोजराज स० १५८० के लगभग ससार छोड़ चुके थे,¶ तो विवाह किस आयु में और कब हुआ होगा ? प्रथम तो यह इतिहास विरुद्ध है, दूसरे

---

* "Mira Bai, her life and songs by "Anath Nath Basu, Indian Antiquary 1903

† Indian Antiquary 1903 "The Legends of Mira Bai by M. Macouliffe

‡ 'विनोद'' पृ० ३६२-६६, ग्रोवज पृ० ४६।

¶ उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृ० ४६।

जब इनके छोटे भाई (चाचा के लड़के) जयमल का जन्म सं० १५६४ में हुआ था,* तो इनका जयमल से पहले का होना चाहिये, न कि बाद को।

मीरा को भोज की पत्नी मान लेने से उनके सास, ससुर, देवर, ननद आदि के उल्लेखों तथा अन्य बातों का समाधान हो जाता है।

अस्तु, हम निःसंकोच सं० १५५५—१५६१ के बीच में मीरा का जन्म-काल मान सकते हैं, और सम्भवतः सं० १५६० के लगभग ही इनका जन्म हुआ होगा।

मीरा के जन्म-स्थान के विषय में विशेष मतभेद नहीं है। ओझाजी प्रभृति इनका जन्म-स्थान कुड़की या चौकड़ी मानते हैं।

जन्म-स्थान

इनके पिता रत्नसिंह को कुड़की बाजोली प्रभृति १२ गाँव, निर्वाह के लिए, मेड़ता राज्य की ओर से, मिले थे।[1] सम्भवतः इनका जन्म पिता की जागीर प्राप्ति के बाद ही हुआ होगा। प्रियादास ने इनकी जन्म भूमि 'मेड़ता' लिखा है, और यह स्वयं भी अपने आपको मेड़तणी मानती तथा श्वसुरगृह में मेड़तणीजी कहलाती थीं।[2] इनका

* ना० प्र० पत्रिका भाग ३ पृ० ११७

[1] उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृ० ३५० [illegible] "मीराबाई का जन्मसंवत्"।

[2] [illegible] ([illegible]), [illegible] पृ० २० [illegible] पृ० [illegible]

कारण माता के बाल्य-काल ही में देहान्त होजाने पर इनका अपने दादा के यहाँ, मेडते में, अधिक काल तक रहना जान पड़ता है। मेडते का प्राचीन नाम मान्धातृपुर था। इसके स स्थापक मान्धाता प्रमार थे। स० १५१८ मे मीराबाई के पितामह रावदूदाजी ने इसको पुनर्जीवन दिया।* मीरा का लालन-पालन करके मेडता सदा के लिए अमर होगया। मेडते से अजमेर की ओर २० कोस का प्रदेश आज भी उनके नाम से "मीराबाई का देश" कहलाता है। †कुडकी भी जोधपुर राज्यान्तर्गत मेडते के ठिकाने (इलाका) मे ही है, अत मेडतणीजी का जन्मस्थान या कम से कम पितृ-स्थान मेडता मानने मे कोई आपत्ति न होनी चाहिए। त्रिवेदीजी ने इनका जन्म-स्थान नेरेटा लिखा है।‡ पता नहीं; पडितजी को यह नाम कहाँ से मिला। क्या यह प्रेस की कृपा है, या मेडते का कोई विकृत स्वरूप है ?

इनके पिता रत्नसिहजी का परिचय दिया ही जाचुका है। इनकी माता के विषय में इतिहास से इतना ही पता चलता है कि

---

* महाराना कुम्भ (शारदा) मारवाड का इतिहास (जगदीशसिह गहलोत)

नोट—महाराना सागा (शारदा) में पृ० ९५-९६ फुटनोट में स० १५२४ के बाद मेडते के राजा दूदाजो हुए।

† काव्य दोहन भाग ७, उदयपुर का इतिहास (ओझा)

‡ सतीमण्डल भाग १ पृ० १४०-४८

वे इन्हें बाल्यकाल ही में छोड़ परलोक सिधारीं।*

माता पिता

यह भी प्रसिद्ध है कि गिरिधर के इष्ट का प्रकट कारण इनकी माता ही थीं। एक दिन इन्होंने पड़ोस में एक कन्या का विवाह होते देखकर माता से पूछा—" माँ, मेरा दूल्हा कौन है ?" माता ने हँसकर गिरिधर की ओर उङ्गली उठादी।† जो कुछ हो, इतना तो निश्चित है कि मातृवियोग के पश्चात् इनके दादा दूदाजी ने इन्हें अपने पास मेड़ते बुला लिया, और वहीं इनका लालन-पालन हुआ।‡

राव दूदाजी परम वैष्णव तथा चतुर्भुज के अनन्य भक्त थे।§ उनके पास रहने से मीरा की बचपन ही से भगवद्भक्ति में विशेष रुचि उत्पन्न होगई। कहते हैं, एक बार एक साधु

बाल्यकाल

इनके पिता के घर ठहरा था। उसके पास गिरिधरजी की एक सुन्दर मूर्ति थी, जिसको बाल-हठ कर मीरा ने प्राप्त किया था। वह मूर्ति इन्हें बड़ी प्यारी होगई थी।

---

* उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृ० ३५८ टि०। तथा ग० 'मीराबाई'

† [illegible]

‡ भक्तमाल (ना० प्र०) भूमिका

§ हरिनारायण "मीराबाई का जीवन चरित्र"

[illegible]

जहाँ अन्य बालिकाएँ अपनी गुडियो का त्योहार मनातीं, मीरा अपने गिरिधरलाल के उत्सव मनाया करती। बचपन का यह खिलौना ही आगे चलकर उनकी प्रेमभक्ति का स्वरूप बना। यही गिरिधर की मूर्ति "मीरा के प्रभु गिरिधर नागर" में परिवर्तित होगई।

दूदाजी की मृत्यु के एक वर्ष बाद स० १५७३ में वीरमजी ने शिशोदिया कुलावतंश हिन्दू-सूर्य महाराना सागा के ज्येष्ठ कुँवर भोजराज से उनका विवाह कर दिया।* [अनाथनाथ वसु ने विवाह-काल स० १५६७ के लगभग दिया है, और मीरा की आयु ११ वर्ष की। इस अनुमान को सत्य मानने में भोज की आयु में गड़बडी पडती है, क्योंकि इस समय भोज के पिता राना सागा की आयु केवल २८ वर्ष की थी।]† विदा के समय सभी लड़कियाँ अपनी प्यारी चीजें अपने साथ लेजाना चाहती हैं, मीरा भी अपने गिरिधरलाल को साथ लेती गई। चित्तौड पहुँच अपने स्वामी की सेवा में लगीं, फिर भी उनका मन भगवद्भक्ति से तनिक भी विचलित न हुआ।

विवाह

---

* उदयपुर का इतिहास पृ० ३५८-३६०; महाराना साँगा नोट पृ० ९५-९६

† "Mirabai, her life and Songs by Anathnath Basu of Viswabharati

श्वसुर-गृह

प्रियादास ने लिखा है कि श्वसुर-गृह में देवी-पूजन पर सास से अनबन हो गई और इन्हें एकान्तवास दिया गया। मीरा के एक-दो पद भी इस आशय के हैं—

"नहिं हम पूजा गोरज्या जी, नहिं पूजां अनदेव।
परम सनेही गोविन्दो, थे काई जानों म्हारो भेव॥"*

ऐसी ही दन्तकथा तुलसीदासजी के बारे में भी प्रचलित है। यह युग साम्प्रदायिक झगड़ों का था। जिस युग में श्रीआचार्य जी की सेविका न होने के कारण अधिकारीजी ने मीरा की भेंट हाथ तक से न छुई, उसमें ऐसा हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। दूसरे बचपन ही से वे गिरिधर को अपना इष्ट मान चुकी थीं, फिर भला अन्य देवता को सिर कैसे झुकातीं? स्वतन्त्रता के लिए बड़ों का कहना मानना पतिव्रताओं के लिए पाप नहीं। इतना होते हुए भी ऐसी कथाएँ केवल दन्तमूलक लगती हैं। जोधपुर और चित्तौड़ के राजवंशों में बराबर वैवाहिक सम्बन्ध होता चला आया है। दोनों एक दूसरे के रीति व्यवहारों से परिचित थे। यद्यपि चित्तौड़ के राजा विशेषतया शिव-भक्त थे, पर उन्हीं के वंश के राणा कुम्भ ने विष्णुमन्दिरों की स्थापना की थी[1]। देवी-पूजन की इस कथा के गढ़ लेने से अपने

* पदावली, पृष्ठ [illegible]।

[1] [illegible] 'राणा कुम्भा का जीवन-चरित', [illegible]

का क्या अभिप्राय था, यह समझ में नहीं आता। मीरा की तो आयु भी इतनी न थी कि वह आते ही सास-ससुर की आज्ञा उल्लंघन करने का साहस करतीं। केवल इतना ही नहीं, 'रूप-कलाजी' ने तो यहाँ तक लिखा है कि मीरा के सास-ससुर ने उनसे अप्रसन्न होकर भोजराज का दूसरा विवाह भी कर दिया।* यद्यपि इस आशय के एक-दो पद भी मिलते हैं कि इनकी पति से कुछ अनबन रहती थी,† परन्तु इनके चरित्र पर पूर्ण रूप से विचार करने पर इन पदों को कल्पित ही मानना पड़ेगा। यह वृथा कलंक है कि मीरा का पति पर प्रेम न था। पति-सेवा के कारण देव-सेवा और देव-सेवा के कारण पति-सेवा में बाधा पड़ने का कोई कारण नहीं जान पड़ता‡। ये सब झगड़े तो तब शुरू हुए, जब विधवा होने पर इनके यहाँ साधु-संतों की भीड़ लगी रहने लगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि मीरा के कुछ ग्रह ही अशुभ आ पड़े थे। पतिगृह में आने पर ही कुछ दिनों पश्चात् सास-ससुर से अनबन रही। खैर, यह भी सहा, पर अभी और बहुत देखना था। कुछ वर्ष भी पति-सेवा न कर पाईं थीं कि कठोर वैधव्य का प्रहार सहना पड़ा। इसी के दो वर्ष बाद उनपर

---

* "श्री मीराबाई का जीवनचरित्र व प्रीति"

† शब्दावली

‡ सती-मण्डल भाग १

दूसरा वज्र-प्रहार हुआ। सं० १५८४ में खानवे के रणक्षेत्र में बाबर के विरुद्ध युद्ध करते हुए उनके पिता रत्नसिंहजी मारे गये, और कुछ ही महीना बाद राणा सांगा भी संसार छोड़ गये*। इन सब अपशकुनों का कारण मीरा ही ठहराई गई। मीरा की दशा सोचते ही हिन्दू विधवा का दृश्य सामने आ जाता है। कोई सन्तान भी नहीं कि जिसे देख मन बहलातीं। पति के अभाव में स्त्री के लिए परमेश्वर ही एकमात्र शान्ति का साधन है। सती मीरा ने सांसारिक मोह में न पड़कर इसी मार्ग का अवलम्बन करना निश्चित किया। बचपन ही से मीरा के संस्कार भक्ति-वृक्ष के उत्पादक, पोषक तथा वर्द्धक थे। प्राचीन बाल-संस्कार के कारण वे दुःख भुलाकर चित्तवृत्तियाँ गिरिधर में लगा दीं। इस पवित्र प्रेम पर पक्का रङ्ग चढ़ाने के लिए ही उन्होंने सत्सङ्ग किया—

"साधूजन नो सङ्ग जो करिये, चढ़े ते चौगणो रङ्ग रे।
साकट जन नो संग न करिये, पड़े भजन में भंग रे।"†

कहते हैं कि इसी समय उन्होंने रैदासजी से गुरु-दीक्षा ली

* 'उदयपुर का इतिहास' (ओझा) पृ० ३५८-३६०, [illegible] पृ० ५०१; वीरविनोद

† [illegible]

‡ भक्तमाल पृ० ११० [illegible]

ली। तीन-चार पदों में रैदास का नाम अवश्य आया है,* पर वे कल्पित जान पड़ते हैं। भगतो ने तो यहाँ तक गढ लिया कि—

"झाँझ पखावज वेणु बाजियों, झालरनो झनकार।
काशी नगर का चौक मा, मने गुरु मड्या रोहिदास॥"†

रैदास मीरा के जन्म के पूर्व ही ससार छोड चुके थे।‡ वे कैसे मीरा से काशी में मिल सकते थे! मीरा के भी तो काशी जाने का कोई उल्लेख नहीं है। रैदास रामानन्दी थे, मीरा कृष्ण-भक्त। जब उन्होंने वल्लभाचार्यजी की सेविका बनने से इन्कार कर दिया¶, तो समझ मे नहीं आता रैदास को क्यो अपना गुरु चुनतीं। उनके गुरू ही नहीं वरन् सर्वस्व गिरिधरजी थे। जो मीरा अन्य देवता तक को शिर झुकाना नहीं चाहती थीं, वह ऐसा कैसे कर सकती थी? भक्तमाल (टीका) में रैदास चित्तौर की रानी झाली के गुरु लिखे गये हैं। झाली रानी रत्नकुँवर राना साँगा की माँ+ और रैदास की समकालीन थीं। गोकुलनाथजी

* शब्दावली पृ० २० श० ४१, पृ० २५ श० ५७, पृ० ३६ श० १४, भा० पृ० ३७ श० १

† काव्य दोहन भाग ७

‡ Encyclopædia of Religion and Ethics, सन्तबानी-संग्रह भा० १, Keay "Hindi Litrature

¶ चौरासीवार्ता पृ० ३४२-३६८

+ ना० प्र० प० (कार्तिक स० १९८१), L Sita Ram's Selections (Saints Raidas)

ने जयमल की किसी 'बेन' के गुरु का नाम हरिदास लिखा है।* गुजरात में रविदासी सम्प्रदाय का जोर था ही, इन्हीं में से किसी के आधार पर, भ्रम से, ये पद रैदास का महात्म्य दिखाने के लिए उनके किसी शिष्य ने जोड़ दिये होंगे।

इस प्रकार मीरा अपने युवावस्था के मनोवेगों का दमनकर साधुसन्तों में भगवत्कीर्तन कर अपने दिन काटने लगीं। उनके देवरों को यह अच्छा न लगा। कुछ ये लोग बुरा-भला कहने लगे तथा ईडरगढ़ आदि से डाटने भी आने लगे†। राणाजी ने मीरा की यह बात चित्तौड़ की मर्यादा के प्रतिकूल समझी। कहते हैं, पहले तो उन्होंने चम्पा चमेली नाम की दो सखियाँ नियुक्त कीं कि मीरा को समझावें, फिर स्वयं उनकी ननद ऊदाबाई पर ही इसका भार रक्खा गया‡। ऊदाबाई का नाम राणा साँगा की पुत्रियों में नहीं दिया गया है*। सम्भव है, यह कुम्भलगढ़ आदि लोगों के किसी भाई की पुत्री हो। मीरा विरक्त हो चुकी थीं। जिसने गिरिधर के प्रेम की चूनर ओढ़ ली, उसे राज-सुख से क्या प्रयोजन ? [illegible] से कह दिया कि बाई जी

* दे० श्री [illegible] पृ० ६४ ६९
† [illegible] पृ० १० [illegible]
‡ [illegible] भाग [illegible] ([illegible]) [illegible] पृ० २? ४० (ऊदाबाई)
* उदयपुर का इतिहास (ओझा)

"राज पाट भोगो तुम्हीं, हमे न तासु काम ।"*

इधर राना रत्नसिंह के बाद विक्रमादित्य राना हुए। विक्रमादित्य की दुष्टता इतिहास से छिपी नहीं है, जिसके फलस्वरूप ही उसे राज और जीवन दोनो से हाथ धोना पड़ा। उसने मीरा को हर प्रकार के कष्ट पहुँचाने शुरू किये,† कंस की भाँति विपधर नाग और हलाहल तक का प्रयोग किया। भक्त मीरा ने इन कष्टों को अपनी भक्ति की कसौटी समझा। उनकी भक्ति, तपाये हुए सोने की भाँति, कुन्दन हो, झलकने लगी। आत्म-बल की विजय हुई। सच्चे प्रेम में कौन सी शक्ति नहीं होती। विप का प्रयोग निष्फल हुआ, विपधर नाग भी चन्दनहार होगया‡, इसमें आश्चर्य ही क्या ?

कहते हैं कि विप का प्याला बीजावरगी (विजयवर्गीय) जाति का वैश्य मन्त्री ले गया था, जिसको यह शाप है कि धन और सन्तान दो में से एक उसके न होगा। इस विपय पर यह कहावत भी है कि—

"बीजावरगी बानियो, दूजो गूजर गौड।
तीजो मिले जो डाइमो, करे टापरो चौड़॥"¶

परन्तु मीराबाई ने स्वयं दयाराम पण्डे के हाथ से विप पाने का

---

* शब्दावली पृ० ४२ श० ६

† उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृ० ३६०

‡ शब्दावली पृ० ६५ श० २६

¶ देवीप्रसाद "मीराबाई का जीवन-चरित"

उल्लेख किया है"। कुछ लोग कहते हैं कि इसी विष से उन्होंने प्राण-त्याग किये। पर यह इतिहास-विरुद्ध है।

एक दिन उन्होंने राणा से पूछा—"आप मुझ पर क्या रिसाते हो? मैंने तो कुछ भी बुरा नहीं किया। जिस मालिक ने तुम्हें हमें, दोनों को, देह दी है, उसी का गुण मैं ने गाया है। मेरी सृष्टि ब्रह्माण्ड के साथ हुई थी, केवल इस जन्म के नाते मैं मेड़तियों के घर उत्पन्न हुई हूँ।" निश्चय जानो कि—

"थारो मारो ना मरूँ, म्हारो राखणहारो और"।

इस पर भी राणा की आँखें न खुलीं। उसने मीरा को तलवार से मारने की सोची। जब उन्होंने जान लिया कि इसकी बुद्धि ठिकाने नहीं है तो कहा कि—

"मारयाँ पराछित लागसी, मोने सौंपो पीहर सेन"।—

उधर उनके काका वीरमजी ने उनके कष्टों का समाचार सुन उनको बुलाने के लिए आदमी भेजे। राणा यह चाहता ही था कि वे उसकी आँखों के सामने से टल जाँय, तुरन्त पीहर के आदमियों के साथ तीर्थ-यात्रा की तैयारी करा दी।

---

१ [illegible] पृ० [illegible]

२ [illegible] पृ० [illegible]

३ [illegible] पृ० [illegible]

४ [illegible] पृ० [illegible]

५ [illegible] पृ० [illegible]

६ [illegible] ([illegible]) पृ० [illegible]

भक्त मीरा मथुरा, वृन्दावन, पुष्कर* आदि तीर्थों मे होती हुई मेडते पहुँची। वृन्दावन मे उन्होने जीवगुसाई † के दर्शन करने चाहे। गुसाई जीने कहला भेजा कि वे स्त्रियो से नहीं मिलते। इसके उत्तर मे मीरा ने कहलाया कि वृन्दावन मे मैं सबको स्त्रीरूप जानती थी, पुरुष केवल गिरिधरलाल को सुना था, पर आज मालूम हुआ कि उनके और भी पट्टीदार हैं। प्रेम-रस मे भीगे इन वचनो को सुनकर गुसाई जी अति लज्जित हुए और नङ्गे पैर बाहर आकर मीरा को बडे आदरभाव से अपने स्थान मे लेगये। भागवत का यह ज्ञान, कि—

तीर्थ-यात्रा

"वासुदेव पुमानेक स्त्रीमयमितरज्जगत्"—

मीरा के माधुर्य्य भाव का परिचायक है, जो उनके प्रत्येक पद मे देखा जा सकता है।

मेडते मे भी मीरा शान्त न रह सकीं। जब आपत्तियाँ आती हैं, तो चारो ओर से आती हैं। स० १५९६ से मेडते में भी उपद्रव शुरू होगये। वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया गया और अन्त मे वे भी स० १६०० में परलोक सिधारे। ‡ यहीं तक मीरा का

* काव्यदोहन भाग ७, शब्दावली पृ० ६० श० १८, पृ० ४१ श० ५, पृ० ६१ श० १९

† प्रियादास की टीका, The Lengend of Mirabai by Macauliffe (Indian Antiquery)

‡ "उदयपुर राज्य का इतिहास (ओझा) पृ० ३६०, मीराबाई का जीवनचरित (दे० प्र०) काव्य-दोहन भाग ७

ऐतिहासिक परिचय हमें मिलता है। सम्भवत वहाँ से वे फिर वृन्दावन गईं और वहाँ कुछ दिनों निवास किया; क्योंकि उनके पदों से उनका वृन्दावन में काफी समय तक रहना सूचित होता है। पर जब ब्रजभूमि में मुग़लपठानों के रणवाद्य बजने लगे* तो सम्भवत संवत् १६१२-१३ के आसपास पुन चित्तौड़ की ओर रवाना हुईं। मेड़ते पर आपत्ति थी ही, जातीं कहाँ? परन्तु चित्तौड़ में भी उनके लिए स्थान न था। राणा उदयसिंह के समय में चित्तौड़ में एक प्रकार से बराबर गड़बड़ हो रही थी। सम्भवत इसी समय उन्होंने सुरपाल के हाथ तुलसीदासजी को पत्रिका भेजी होगी, जो उन्हें संवत् १६१६ के बाद मिल सकी थी।† इस समय रेल, जहाज तो थे नहीं कि लोगों की यात्रा मिनटों में हो जाती। वहाँ तो "नौ दिन चले अढ़ाई कोस" वाली मसल थी।

इसके बाद मीरा द्वारका गईं,‡ और (उपर्युक्त अनुमान के अनुसार) सम्भवत संवत् १६२०-३० के § बीच में वहीं परमधाम को प्राप्त हुईं। प्रियादास ने लिखा है कि चित्तौड़ से

* [illegible]

† ना० प्र० पत्रिका भाग ... सं० १९८२ पृ० ... व पृ० ... [illegible]

‡ मिश्रबन्धु का ... पृ० ... [illegible]

§ ... पृ० ... [illegible])

उनको बुलाने के लिए आये हुए ब्राह्मणों के आग्रह करने पर उन्होंने कहा—"रणछोरजी से मिल लूँ" । इतना कह मन्दिर के अन्दर गईं और मूर्ति मे लीन हो गईं ।

इनके देहान्त के समय का पता ठीक नहीं चलता । मुशी देवीप्रसादजी ने भूरिदान भाट के कथन के आधार पर लिखा है कि इनका अन्तकाल सवत् १६०३ मे हुआ ।* १६००-१६०१ तक का पक्का ऐतिहासिक प्रमाण तो मुशीजी के पास है । यथासम्भव इस काल तक ये मेड़ते में ही रही होंगी । अब यदि ऊपर लिखी गई बातें सत्य माने, तो केवल एक-दो वर्षों में इतनी घटनाओंका होना यदि असम्भव नहीं, तो असङ्गत अवश्य प्रतीत होता है । तथैव उनके पद ही इस बात के पक्के प्रमाण हैं कि उन्होंने काफी समय रणछोरजी के सामने भक्तिकीर्तन मे बिताया । गुजरात प्रदेश में मीरा के पद उसी प्रकार प्रचलित हैं, जिस प्रकार उत्तर भारत में रामायण की चौपाइयाँ । बडे-बडे प्रासाद से लेकर छोटी-मोटी कुटियों तक में, मीरा के गीत बडे चाव से गाये जाते हैं । यदि मीरा गुजरात मे केवल एक-दो वर्ष ही रही होतीं, तो वह इतनी ख्याति प्राप्तकर लेतीं, यह असम्भव है । क्या एक ही दो वर्षमे उनका गुजरात पर और गुजरातियों का उनपर इतना हक़ होगया कि आज मीरा को गुजराती भाई अप-

मृत्यु-काल

* 'मीराबाई का जीवन-चरित' (दे० प्र०), उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृ० ३६०

नाने के लिए इतना झगड़े ? समझ में नहीं आता कि राजस्थान के इतिहासकारों को सम्वत् १६०३ क्यों ठीक जान पड़ा।

बाबू राधाकृष्णदास ने भक्तनामावली की टिप्पणी में लिखा है कि आगरे में प्रतिष्ठित मूर्ति का संवत् १६११ का लेख शायद मीराबाई का है। बाबा बेनीमाधवदास ने उनका तुलसीदासजी को संवत् १६१६ के लगभग पत्रिका भेजने का उल्लेख किया है और ले जानेवाले सुखपाल का नाम भी दिया है*। प्रियादास ने तो भक्तमाल की टीका में तुलसी के पत्र-व्यवहार के अतिरिक्त तानसेन-सहित अकबर का उनके दर्शनार्थ आना भी लिखा है।† इन उल्लेखों को सत्य मानने में कोई ऐतिहासिक आपत्ति नहीं दिखाई देती। गुसाईं तुलसीदासजी का जन्म संवत् १५५४ में हुआ था तथा १६१६ में उनकी आयु लगभग ६२ वर्ष की थी। न मालूम क्यों बाबू शिवनन्दनसहाय को इतनी आयु होने पर भी उनकी ख्याति होने में सन्देह हुआ।‡ यदि उनकी इतनी ख्याति न होती कि मीरा पत्र भेजकर उनकी सम्मति लें, तो सूरदासजी क्यों उनके पास भेंट आते कि आकर कहें अपना सूरसागर दिखावें।§

---

* [illegible] सं० १९८३ पृ० [illegible]
† [illegible]
‡ [illegible] सं० १९८३ पृ० [illegible]
§ [illegible] पृ० ११० ११६
[illegible] सं० १९८३

हम मानते हैं कि उनकी सुख्याति 'मानस'-रचना के पीछे ही हुई होगी, परन्तु क्या कवि तुलसीका सवत् १६३१ के पूर्व भक्त तुलसी होना भी असम्भव है? फिर 'मानस' के पूर्व भी तो वे रचना कर चुके थे। हाँ यदि तुलसी का जन्मकाल सवत् १५८९ स्वयसिद्ध मान लें*, और साथ ही सवत् १६०३ में मीरा का मृत्युकाल मानें, तब तो अवश्यही १५वर्ष की आयुमें तुलसीकी ख्याति नहीं होसकती। परन्तु "मूलगुसाईं-चरित" में तुलसी का जन्मकाल सवत् १५५४ निश्चित है †। रही अकबर से भेंट, सो वह तभी सम्भव हो सकती है, जब मीरा का मृत्युकाल सवत् १६२९ के बाद मानें। सवत् १६२९ (1572 A D) में अकबर ने गुजरात पर अपना अधिकार किया था ‡। मीरा का नाम उस समय अवश्य ही गुजरात के कोने-कोने में सुनाई देता होगा। अकबर की प्रवृत्ति धर्मचर्चा की ओर थी ही, उसने अन-र भ क

* रामगुलाम द्विवेदी; ग्रियर्सन

† नोट—स० १५५४ में जन्म मानने से तुलसीदासजी की आयु मृत्यु के समय (स० १६८०) १२६ वर्ष की होती है। कुछ विद्वानों की सम्मति में इतनी आयु तक जीवित रहना असङ्गत जान पड़ता है। विशेषतया इतनी आयु में ग्रन्थ-रचना, करना तो असम्भव-सा है। पर क्या आज भी किसी-किसी को इतनी आयु प्राप्त नहीं हो जाती? ग्रन्थ-रचना के उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने रचना-आरम्भ भी तो देर में किया था।

‡ Oxford History of India by Vincent Smith p 352

मीरा के दर्शन की अवश्य इच्छा की होगी। अतएव मीरा का मृत्युकाल इस अनुमान से संवत् १६३० के लगभग सिद्ध होता है। इसलिए हमको भारतेन्दुजी का यह मत कि मीराने सं० १६२०-३० के बीच शरीर त्याग किया, ठीक जान पड़ता है, जैसा इन्होंने उदयपुर दरबार की सम्मति से निर्णय किया था*। अनाथनाथ वसु मीरा की [illegible] का समय संवत् १६२७ के लगभग लिखते हैं†। रूपकलाजी के पिता [illegible] ने इनका मृत्युकाल संवत् १६८५ दिया है‡। पता नहीं, इसका क्या प्रमाण उनके पास था।

संवत् १६३० के आसपास देहान्त मानने से मीरा की आयु, उनकी मृत्यु के समय, ७० वर्ष के भीतर ही होती है। इतनी आयु तक जीना असम्भव नहीं जान पड़ता, प्रत्युत उनकी प्रकृति के विचार से तो उतनी अधिक अवस्था ही स्वाभाविक जान पड़ती है। परन्तु यद्यपि यह ठीक निश्चित नहीं है कि मीरा ने किस संवत् में शरीर-त्याग किया, तथापि इतना मान लेना तो अनुचित न होगा कि संवत् १६२० और संवत् १६३० के बीच में उनका देहावसान हुआ। इसलिए संभवतः सं० १६३० के आसपास ही वे परमधाम को चली गई थीं।

* [illegible] ([illegible])

† [illegible]

‡ [illegible]

मीरा केवल भक्त ही न थी, वह कवि भी उच्चकोटि की थी।*
कविता का रहस्य है भावुकता, तल्लीनता एवं स्वाभाविकता। कवि
बनते नहीं है, पैदा होते हैं। प्रकृति ने जिसे
कविता और भक्ति प्रबल भाव दिये हैं, ओज दिया है, वही कवि
है। भावों से, उमंग से, प्रेम से, जब उसका
हृदय भर जायगा, तब वह आप से आप कविता कह उठेगा। उपमा,
अलङ्कार, पदलालित्य इत्यादि का विचार करने की उसे आवश्यकता
नहीं है। इन विचारों से तो कृत्रिमता आ जायगी। जो सच्चा कवि
है, उसकी रचना आप से आप इन गुणों से विभूषित होगी।
जो कवि नहीं है, उसकी रचना इन गुणों से यत्किञ्चित् विभूषित
रहने पर भी कविता न होगी। स्वाभाविक कविता का प्रवाह स्वाभाविक
होगा, कृत्रिम न होगा, अतएव सादा होगा—बनावटी क्लिष्टता से
रहित होगा। जब व्याध ने क्रौञ्च पक्षियों को तीर से मारा, तब
आदिकवि वाल्मीकि के दयार्द्र चित्त के भाव आप से आप एक
सुन्दर सुष्ठु श्लोक के रूप में प्रकट हुए। सच्ची कविता की उत्पत्ति
का यह सर्वोत्तम दृष्टान्त है। मीरा ने भी कविता व्यवसाय के
लिए नहीं की थी। यह तो उसके हृदय में व्याप्त गिरिधर-प्रेम का
स्वाभाविक परिणाम था।

---

* नोट—कुछ विद्वानों को मीरा को उच्चकोटि का कवि मानने में आपत्ति है। 'राग गोविन्द' तथा 'राग सोरठ' को उन्हीं की रचना मानने वालों को कदाचित् यह सन्देह न होगा। एक राजकुमारी का संगीत एवं कविताप्रिय होना स्वाभाविक ही है।

पदों और भजनों के अतिरिक्त, समय समय पर, प्रेम के रचना आवेश की दशा में, जो पद मीरा के मुख से निकले, वे नीचे लिखे ग्रन्थों के रूपों में, उन्हीं के रचे कहे जाते हैं :—

१ नरसी का मायरा—"नरसी को माहेरो मंगल गावे मीरा दासी"। काव्य-दोहन में लिखा है कि इसकी पाँचवीं पंक्ति से यह विदित होता है कि मीरा ने इसे मिथिला सखी आदि भक्त जनों को सुनाया था।

२ गीत गोविन्द की टीका—सम्भवतः यह राणा कुम्भ की बनायी टीका ही होगी और जिस प्रकार भ्रम से कुम्भ का मन्दिर "मीराबाई का मन्दिर" कहलाने लगा, उसी प्रकार उनकी टीका से भी मीरा का नाम जोड़ दिया गया।

३. राग गोविन्द—इसका उल्लेख प्रायः सभी आधुनिक लेखकों ने किया है। गौरीशंकर जी इसे एक काव्य ग्रन्थ मानते हैं।

४ राग सोरठ—मिश्रबन्धु इसे एक पृथक ग्रन्थ मानते हैं। इसके पद 'राग-कल्पद्रुम' से उद्धृत किये गये हैं।

---

* काव्य-दोहन भाग ३, [illegible] भाग १ पृ० १८३ ६६, [illegible] का इतिहास (हिन्दी), [illegible] का [illegible] ([illegible])

[illegible] पृ० [illegible]

५ स्फुट पद—जोधपुर दर्बार में इनका एक सग्रह प्रामाणिक माना जाता है।

यद्यपि मीराबाई के पद हिन्दी व गुजराती की कई पुस्तकों* मे सगृहीत पाये जाते हैं। परन्तु उनमे बहुत से मेल के भी हैं, जो सन्तों, गायकों, प्रकाशको आदि की कृपा के फलस्वरूप हैं। जैसे—

"नागर नन्दा रे, मुकुट पर वारी जाऊँ, नागर नन्दा।
वनस्पती मे तुलसी बडी है नदियन मे बडी गगा।
सब देवन में शिवजी बडे हैं, तारन मे बडा चन्दा॥
सब भक्तन मे भर्थरी बडे हैं, शरण राखो गोविन्दा।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागुन चरण-कमल-चित-फन्दा॥†

इससे अच्छा प्रमाण मेल का और क्या हो सकता है ? पहली पक्ति मे जितनी मधुरता है अन्य पक्तियों मे उतनी ही नीरसता है। ये पक्तियाँ 'हरिगीतिका' गानेवाला की भी जान पडती है। मीरा की कविता तथा उनकी प्रेम-भक्ति पर विचार करने के पूर्व इस कठिनाई को पूर्ण रूप मे स्मरण रखना चाहिये।

भाषा एव प्रतिपादित विषय पर विचार करने से हमारी यह धारणा होती है कि इनके विभिन्न पद भिन्न-भिन्न समय एव

* काव्य-दोहन, मीराबाई की शब्दावली (बे० प्रे०), मीरा-सहजो-पदसग्रह भजन सागर।

† काव्य दोहन भाग ७

स्थानों पर रचे गये। "माई" वाले पदों में मारवाड़ी का ही बाहुल्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि माता के न रहने पर यह किसी को माई कह-कर पुकारती रही होंगी और उन्हीं को सम्बोधित कर उन्होंने ये पद रचे। इन पदों में राणा के लिये गये पदों के साथ-साथ प्रेम-भक्ति की झलक भी दिखाई पड़ती है। अतएव इनकी रचना उस समय की जान पड़ती है, जब मीराबाई वीरमजी के बुलाने पर कुछ दिन के लिए मेड़ते गई थीं। कारण स्पष्ट है—विवाह के पूर्व ये बालिका थीं। दूसरे पद राणा तथा ऊदाबाई को सम्बोधित कर लिखे गये हैं। इनमें साधु-संगति न छोड़ने पर विष-प्रयोग आदि का उल्लेख है। 'ऊदाबाई' वाले पद ननद भाभी के वार्तालाप के रूप में हैं, जिनमें मीरा की भाषा मारवाड़ी तथा ऊदाबाई की मेवाड़ी है। ये पद चित्तौड़ में रचे गये प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार कृष्णलीलाओं के पद वृन्दावन में तथा नीति-वैराग्य-सम्बन्धी पद द्वारिका में कहे जा सकते हैं। इन प्रेम-भक्ति विषयक पद, जो तो किसी विशेष समय के नहीं कहे जा सकते। और यही पद सबसे अधिक भी हैं, जो समय-समय पर प्रेम के आवेश में मीरा के मुख से निकले। वास्तव में इनकी कविता का मुख्य विषय प्रेम-भक्ति और ज्ञान भक्ति है, नीति-वैराग्य, कृष्ण लीला आदि सभी भक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं।

कविता विभाग
पद
रचनाकाल

राणा के प्रति उक्ति तथा नीति-वैराग्य सम्बन्धी पदों में ऐसे

नया सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया गया है। उन्होंने बराबर यही चेतावनी दी है कि—

"यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड्या उडिजासी।"

ससार नश्वर है। मनुष्य योनि बार-बार नहीं मिलती। इसलिए मनुष्य को सावधान हो कर्मपथ पर अग्रसर होना चाहिये। बाहरी आडम्बर व्यर्थ हैं। उनको छोडकर अनन्य भाव से भगवद्भक्ति करना ही उचित है, क्योंकि सच्ची भक्ति ही मुक्तिदायिनी है। केवल वही आवागमन से छुड़ा सकती है।

भक्ति का भाव कोई नया भाव नहीं था। भक्ति की धारा प्राचीन समय से देश में चल रही थी। सामवेद ने भक्ति की महिमा गाई है। भगवद्गीता का उपदेश है—

"ये भजन्ति तु मा भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्"

श्रीमद्भागवत् ने इस प्रकार भक्ति को ज्ञान, कर्म, तप, व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ आदि पर प्रधानता दी है।

"अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखै
अलं ज्ञान कथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा।"

भक्ति के इसी श्रोत ने माध्यमिक काल में वैष्णव-धर्म का स्वरूप धारण किया। वैष्णव-सम्प्रदाय में विषय-भेद एव गुणभेद से भक्ति के अनेक प्रकार हो गये। मानवी हृदय की प्रेम-पिपासा ने प्रत्येक निराकारी मत को कुछ साकार रूप दे दिया है। फलत १५ वीं सदी क निर्गुणी भक्ति-मार्ग १६ वीं सदी में सगुण हो गया।

भक्ति की धारा

निराकार परमेश्वर के स्थान पर साकार परमेश्वर की भक्ति प्रबल हुई। यदि ब्रह्म ने राम तथा कृष्ण आदि स्वरूप धारण किये तो भक्ति भी सामान्य मार्ग, राम आदि भावों में विभक्त हो गई।

श्रीयुत आनन्दशङ्कर ध्रुव ने लिखा है कि "हम मीरा का चैतन्य सम्प्रदाय के साधुओं के साथ समागम मानते हैं। परन्तु उनकी भक्ति प्रकट करनेवाली मुख्य शक्तियों सम्प्रदाय हम जयदेव और रामानन्द को मानते हैं"। मीरा किस सम्प्रदाय की थी यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। हाँ हम इतना कह सकते हैं कि वे परम वैष्णव थीं और श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित निर्विशेष कृष्णभक्ति लीन थीं।

प्रो० विल्सन तथा मेकालिफ प्रभृति पाश्चात्य लेखकों ने भी 'मीराबाई पन्थ' शब्द का उल्लेख किया है। मीरा ने कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया। वे स्वतन्त्र भक्त थीं। उनको इन झगड़ों से क्या प्रयोजन था? वास्तव में उनके पद इतने स्पष्ट और प्रभावपूर्ण हैं कि गुजरात और राजपूताने में साधुजन उन्हें बराबर गाते रहते हैं। इन पदों में कोई खास सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया गया है और न कोई कहता ही है कि वे पद "मीराबाई" पन्थ के हैं। कदाचित् इस भ्रान्ति का कारण यह है कि साधु विरक्तों

जो इन पदो को मीरा की तरह गाती और कृष्ण सेवा करती है वे "मीराबाई" कहलाती हैं ।

कबीर, सूर, मीरा और तुलसी अपने-अपने ढग पर उस भक्ति-स्रोत के प्रतिनिधि थे, जो १५ वीं और १६ वीं सदी मे तीव्र वेग से देश मे बह रहा था । भक्ति का तत्व है परमात्मा मे प्रेम, तल्लीनता और आत्म समर्पण ।

भगवान की भक्ति का रूप भक्त की निजी भावना पर निर्भर है । यदि यशोदा को पुत्र के रूप मे उनका दर्शन होता है, तो अर्जुन को वे सखा के रूप मे दिखाई पडते हैं । तुलसी यदि जगदीश्वर भाव से प्रेरित होकर उनकी भक्ति मे लीन होते हैं, तो शङ्कर आत्म-भाव से परिप्लावित होकर अपने को भगवान को समर्पित कर देते हैं । अनन्यहृदया मीरा ने गोपियों की तरह कृष्ण की भक्ति पति-भाव मे ही की है । परन्तु जहाँ गोपियाँ बराबरी का दावा कर सकती हैं, मीरा केवल दासी बनकर ही आत्मा को शान्ति पहुँचाना चाहती है । मीरा का प्रेम आदर्श हिन्दू पतिप्राणा का प्रेम है, फिर भला वह प्रियतम से कैसे रूठ सकती !—प्राणेश्वर में कैसे दोष लगा सकती !! उसके कृष्ण गोपियो के काले कृष्ण नहीं हैं । उसके उपास्य का रग तो कुछ और ही है । उसे उनके बाहरी रूप से सम्बन्ध नहीं । उसका लक्ष्य आदि से अन्त तक एक है—प्रियतम से मिलन । प्रेम का यह भाव शारीरिक नहीं है, मानसिक भी नहीं है । यह विशुद्ध निरुपाधि प्रेम है । जहाँ मीरा ने 'वर' का प्रयोग

किया है, यहाँ यह वाच्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ में ही प्रयोग किया गया है।

मीरा के प्रेम का आरम्भ उस गिरिधर की मूर्ति से हुआ प्रेम-भक्ति का था, जो उसने बाल-हठ वश अपने [illegible] [illegible] के लिए प्राप्त की थी। कहिये —

'बालपन ते मीरा कीन्हीं गिरिधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत [illegible] नहिं लगन लगी बरियाई॥'

वास्तव में वह खिलौना भी ऐसा ही सुन्दर था कि बालिका मीरा के हृदय का प्यारा हो गया। एक क्षण भी उससे पृथक् होना मीरा के लिए कठिन था। वह उससे हँसती बोलती और प्रायः उसे लिये खेलते-खेलते सो जाती। उस खिलौने पर उसका प्रेम कितना गहरा और सच्चा था, यह बाल मनोविज्ञान के जानकार स्वयं अनुभव कर सकते हैं। जब कुछ बड़ी हुई, तो अपनी माता का देखा देखी मीरा उस खिलौने की पूजा वन्दना भी करने लगी। क्रमशः गिरिधर के वास्तविक रूप को समझने पर उनके गुण-श्रवण, दर्शन, चर्चा इत्यादि से मीरा के हृदय में कृष्ण के प्रति सच्ची भक्ति का अंकुर बचपन ही से दृढ़ होने लगा। कौन जानता था कि भविष्य में यह खिलौना ही उनके जीवन का एक मात्र सहारा होगा!

जब मीराबाई [illegible] [illegible] [illegible] का [illegible] हुआ तो [illegible] [illegible] हृदय की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] परमेश्वर का

पन्थ निहारूँ डगर बुहारूँ, ऊभी मारग जोय।
'मीरा' के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय॥"

इन पंक्तियों में प्रेम की वह झलक है कि उपास्य एक बार अपने उपासक को दर्शन देकर फिर चुपचाप बैठ जाता है और वियोग की कसौटी पर, उपासक की लगन को कसकर, उसकी गहराई तक पहुँचना चाहता है। उपासक की दशा इस समय ठीक वही होती है जो चुम्बक पत्थर दिखाने के बाद सुई की। यदि भक्त का प्रेम बनावटी होता है, तो वह एकदम इस धक्के से चूर-चूर हो जाता है, और यदि सच्चा होता है तो इस आपत्ति को झेलकर, अपने इष्ट तक ले जानेवाले मार्ग पर, और भी अधिक वेग से अग्रसर होजाता है। इस दशा को पहुँचकर वह अपने प्रेमी प्रियतम की खोज में जोगी हो उसे वन-वन ढूढता फिरता है। जिस तरह हो, जिस भेष में हो, वह उससे साक्षात् करने के लिए लालायित होजाता है—

'जोइ जोइ भेस सो हरि मिलैं, सोइ सोइ भल कीजे हो।"

वह उन्मत्त होकर नाचने लगता है। संसार ऐसे मनुष्य को पागल की उपाधि से विभूषित करता है, परन्तु प्रेमी इस विरहाग्नि में तपकर ऐसा कुन्दन हो जाता है कि उसे किसी का ध्यान ही नहीं रहता। उसे केवल यही अनुभव होता है कि—

"औरों के प्रिय परदेस बसत हैं, लिखि-लिखि भेजें पाती।

मेरा पिय मेरे हिय बसत है, गूँज करूँ दिन राती ॥"

प्रेम की इस सीमा पर पहुँचकर प्रेमी अपने उपास्य को सम्बोधित कर कहता है—

"अगर चँदन की चिता रचाऊँ अपने हाथ जला जा।
जल बल भई भस्म की ढेरी, अपने अंग लगा जा।
'मीरा' कहे प्रभु गिरिधर नागर जोत में जोत मिला जा॥"

प्रेम का परिणाम भक्ति है, भक्ति का परिणाम आत्म निवेदन और आत्म निवेदन का अन्तिम परिणाम अभेद। मीरा का प्रेम सोलहवीं कोटि का था। इसीलिए उसने कहा है—

"हरी मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाने कोय ॥ टेक ॥
सूली ऊपर सेज हमारी किस बिधि सोना होय ॥
गगन मंडल पै सेज पिया की किस बिधि मिलना होय।
घायल की गत घायल जानै, की जिन लाई होय ॥
जौहरि की गति जौहरी जानै की जिन जौहर होय ॥
दरद की मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
'मीरा' की प्रभु पीर मिटैगी जब बैद सँवलिया होय ॥"

प्रेम कोई [illegible] नहीं है। प्रेम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] प्रेम की [illegible] [illegible] नहीं है, [illegible]

रग मे आपही शराबोर है, जो प्रेम आत्म-समर्पण द्वारा उसी मुक्ति का देनेवाला है, जिसकी महिमा बीसवी शताब्दी मे महाकवि रवीन्द्र ने इस प्रकार गायी है—

"श्ये दिन आँमार मुक्ती जाये हवे हे चिरवाञ्छित ।
तोमार लीलाय मोर लीला,
जे दिन तोमार सगे गीत रगे तले तले मिला ।"

वही वास्तविक प्रेम है । और मीरा इसका ज्वलत उदाहरण है ।

रस

भक्ति-प्रधान होने से इनकी कविता मे शान्त रस का ही आधिक्य है । मीरा का हृदय ही भक्ति से परिप्लावित था । निरन्तर गिरिधर के सम्पर्क में रहने के कारण उनकी वाणी हृदय-वेधक भावों की प्रकाशक होगई थी । इसके साक्षी उनके पद हैं । उनके पदो से ईश्वर के प्रति एकान्त प्रेम, तथैव सासारिक व्यापारो के प्रति वैराग्य झलकता है । यथा—

(राग समाच)

'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई ।
दूसरा न कोई साधो, सकल लोक जोई ॥
भाई छोड्या, बन्धु छोड्या, छोड्या सगा सोई ।
साधु सग बैठ-बैठ, लोक लाज खोई ॥

भगत देख राजी हुई, जगत देख रोई।
असुवन जल सींच सींच प्रेम बेल बोई॥
दधिमथ घृत काढ़ि लियो, डार दई छोई।
राणा विष को प्याला भेज्यो, पीय मगन होई॥
अब तो बात फैल पडी, जाने सब कोइ।
'मीरा' राम लगण लागी, होनी होय सो होई॥"

कृष्ण का उपास्यदेव होना ही मीरा के शृंगार-वर्णन का कारण है। पर शृङ्गार होने पर भी उसमें मस्ती न होकर अपूर्व शान्ति ही प्रकट होती है। उनकी कविता अलौकिक शृङ्गारमूलक है। वह "माधुर्यमयी" है। उनकी परकीया बिहारी की परकीया नहीं है। उन्हें तो वास्तविक भक्ति के आदर्श का निरूपण करना है। जिस प्रकार परकीया का प्रेम अपने प्रियतम पर होता है, उसी प्रकार सच्चे भक्त का प्रेम अपने उपास्य पर होना चाहिये। इसी का नाम प्रेम-भक्ति है। इसी का नाम प्रेम-स्वात्मार्पण है। दोनों की तुलना का कैसा सुन्दर चित्र इन पंक्तियों में खींचा गया है—

'मैं विरहिन बैठी जागूं, जगत सब सोवै री आली॥
बिरहिन बैठी रंगमहल में, मोतियन की लड़ पोवै।
इक बिरहिन हम ऐसी देखी, अँसुवन माला पोवै॥
तारा गिन गिन रैन बिहानी, सुख की घड़ी कब आवै।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिल के बिछुड़ न जावै॥ आली॥

दोनों का माध्यम एक है—माला, दोनों का लक्ष्य भी एक ही है—प्रियतम से मिलन। विभिन्नता केवल साधन के रूप में है। सांसारिक माया में लिप्त रहनेवालों की दृष्टि केवल बहुमूल्य वस्तुओं पर ही पड़ सकती है, परन्तु ईश्वर के विरह में पगली हो जानेवाली प्रेमिका का क्षेत्र दूसरा है। प्रियतम बहुमूल्य उपहारों द्वारा प्राप्त नहीं होसकता। राजघरानों के वातावरण में पली हुई विरहिणियाँ प्रकृति की उपासिकाओं से कैसे आगे बढ़ सकती हैं? मोतियों की माला बनाकर प्रियतम का स्मरण करना एक सांसारिक स्वार्थ दिखाई पड़ता है, परन्तु आँसुओं की माला में आत्म-समर्पण की पूरी-पूरी झलक है। और ऐसा भला क्यों न हो? अमूल्य की प्राप्ति अमूल्य ही से हो सकती है। अलौकिकों के लिए ही दुष्कार्य कार्य किया जाता है। साधारण अग्नि में जलने का कोई विशेष महत्व नहीं। प्रचण्ड ज्वाला में तपने पर ही सोना कुंदन होता है। फिर यदि अपने हृदय पुष्प की पखडियों से निकल भागनेवाले के लिए मीरा ने उन्हीं से प्रत्युत्पन्न आँसुओं का आश्रय लिया तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

सावन तथा होली आदि के वर्णन भी इसी अलौकिक भक्ति-भाव के प्रदर्शक हैं। उनका प्रयोग उस उद्दीपन विभाव के लिए नहीं हुआ है, जिसके लिए देव और बिहारी की झड़ी लगी है। यहाँ तो प्रकृति का अपने प्रियतम से मिलन देख जीवात्मा की

परमात्मा से मिलने की उत्सुकता का ही केवल चित्रण करना है। यथा—

"उमग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै, दामिन छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिलन के काज।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, बेग मिलो महाराज॥"

वास्तव में मीरा की आत्मा का प्रकृति से वही सामञ्जस्य था जो एक सच्चे कवि में होना चाहिए। यदि कालिदास ने मेघदूत में यक्ष का सँदेसा भिजवाया है, तो मीरा भी उसमें अपने प्रियतम का समाचार पाने को उत्सुक है। उसको तो संसार की प्रत्येक वस्तु ही प्रियतममय जान पड़ती है। सावन की श्याम घटा देखकर उसे हरि के स्वरूप का स्मरण हो आता है और वह पूछने लगती है—

"मतवारो बादल आयो रे, हरि को सँदेसो कछु नहिं लायो रे।"

नन्हीं-नन्हीं बूँद पड़ रही हैं। बड़े परिश्रम के अनन्तर प्रियतम का आगमन हुआ है, परन्तु बहुत ही शीघ्र चला जा रहा है। आदर्श हिन्दू-सेविका इससे अधिक नहीं सह सकती। विवश होकर उसे दैवी शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। धनुष-यज्ञ के समय रामचन्द्र को पिनाक उठाने जाते देखकर जैसे सीता के हृदय में जो भाव उत्पन्न हुआ था, ठीक वैसा ही भाव यहाँ भी दिखाई पड़ता है। सीता ने धनुष के भारी होने के कारण प्रार्थना की थी कि वह हल्का हो जाय और यहाँ सेविका यह

प्रार्थना कर रही है कि पानी अधिक वेग से पड़ने लगे। कैसी स्वाभाविकता है! — मनोविज्ञान के पाठक स्वयं देख सकते हैं। पद यह है—

"मेहा बरसबो करेरे, आज तो रमियो मेरे घरे रे।
नान्हीं-नान्हीं बूंद मेघ-घन बरसे, सूखे सरवर भरे रे।
बहुत दिना पै प्रीतम पायो, बिछुरन को मोहि डर रे॥

गीतिकाव्य होने के कारण मीरा की कविता में छन्दों की वह विभिन्नता नहीं हो सकती जो तुलसी, केशव आदि में सम्भव है।

छन्द

हाँ, राग-रागिनियों के भेद अनेक हैं। मीरा का 'मलार' राग तो विशेष प्रसिद्ध है ही, 'कल्याण' और 'मारू' आदि में भी उनके उत्तम भजन हैं। यथा—

"राखो रे श्याम हरी, लज्जा मोरी राखो श्याम हरी।"

गाने योग्य छंद पद कहे जाते हैं। मीरा के अधिकांश पद संगीत के सुर-लय से बँधे हुए हैं। कवि के लिए संगीत-शास्त्र की अभिज्ञता परमावश्यक है। वास्तव मे यदि कविता शरीर है तो संगीत हृदय और रस आत्मा, और मीरा की कविता में इन तीनों का सामञ्जस्य है।

मीरा के पदों की अन्तिम पंक्ति में विभिन्नता पाई जाती है। गुजराती लेखकों की सम्मति में "मीरा कहे प्रभु गिरिधर नागुन" ठीक जँचता है, क्योंकि मीरा की भक्ति दासभाव की थी।

वह गिरिधर के गुण गान किया करती थी। गुजराती में तो अर्थ ठीक बैठ जाता है; परन्तु हिन्दी में 'नो' की जगह 'का' या 'के' करना पड़ेगा। समझ में नहीं आता कि "गिरिधर नागुन" के स्थान पर "गिरिधर नागर" होने में क्या कठिनाई पड़ सकती है?

मीराबाई अलंकारों की उपासिका नहीं थीं; फिर भी उनकी कविता में अलंकारों का उतना ही स्थान है जितना स्वाभाविक कविता में होना चाहिए। थोड़ी सी पंक्तियों में ही उन्होंने नख-शिख की-सी शब्दयोजना किस खूबी साथ के किया है—अनुप्रास का कैसा अच्छा उदाहरण है। देखिये—

अलंकार

"कुंडल की अलक झलक, कपोलन पर छाई।
मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई॥
कुटिल भृकुटि, तिलक भाल, चितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप मीन, भूले मृगछौना॥"

इसकी उत्प्रेक्षा और प्रतीप तो पढ़ सूर के 'कुंडल मकर कपोलन के ढिग जनु रवि रैनि बिहानै' तथा 'खंजन मीन मृगज सकुचाई नहिं पटतर इक नैन' इत्यादि पदों की याद दिला देते हैं। रूपक, उपमा, रूपक आदि के भी अच्छे उदाहरण इनकी कविता में मिलते हैं, जिन सबका उल्लेख इस छोटे से निबन्ध में नहीं किया जा सकता।

मीराबाई की पदावली भाषा-विज्ञान का भी एक बडा ही रोचक विषय है। मीरा का सम्बन्ध चार विभिन्न प्रदेशों मे रहा है—मारवाड़, मेवाड, ब्रज तथा गुजरात। यद्यपि इनके पद इन चारो स्थानों की भाषाओं में पाये जाते हैं, परन्तु आधिक्य केवल ब्रजभाषा के पदों का है। इसका कारण यह जान पडता है कि ब्रजभाषा ही उस समय की कविता की भाषा थी, और इसलिए ये भी कृष्ण की भक्त होती हुई अपने को इस प्रभाव से न बचा सकीं। कृष्ण-लीला-सम्बन्धी पद शुद्ध ब्रजभाषा के अच्छे उदाहरण हैं। यथा—

भाषा

"झूलत राधा सग गिरिधर, झूलत राधासग।
अबीर गुलाल की धूम मचाई, डारत पिचकारी रग॥
लाल भयो वृन्दावन जमुना केसर चुअत अनग।"

परन्तु इनके पदों में अन्य भाषाओं के भी शब्द पाये जाते हैं, जैसे दीदार, नज़र, तकसीर, कुदरत के कुरबान, हाज़िर, नाज़िर अरजी, मरजी इत्यादि फारसी शब्द। पूर्वी में तो इनके कई सुन्दर पद तक मिलते हैं, जिनमें से कुछ पक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

"जसुमति के दुवरवाँ, ग्वालिन मच जाय।
बरजहु आपन दुलरुवा, हमसों अरुझाय॥"

तथा—

"कहँ गइलें अक्रूर, कहँ गइलीं गाय।
कहँ गइले धेनु चरावन राय॥
कहँ गइलीं गोपी, कहँ गइले ग्वाल।
कहँ गइले मुरली बजावनहार॥
'मीरा' के प्रभु गिरिधरलाल।
तुम्हरे दरस बिनु भइल बेहाल॥"

यदि ये पंक्तियाँ मीरा की बनायी हुई हैं, तो इसका कारण उनका सब जगह के साधुओं से सत्संग ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त इनकी रचना में प्रचलित मुहाविरों का भी अच्छा प्रयोग हुआ है। यथा—"पायन की गत पायल आवे", "माथा ऊपर हाथ लगायो" इत्यादि। वास्तव में इनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि वह जहाँ गईं, वहाँ की भाषा पर भी पूर्ण अधिकार कर ही लिया। वहाँ के लोगों के रहन-सहन का भी अध्ययन करती गईं। यहाँ। नीचे की पंक्ति में कितनी सुन्दरता के साथ ब्रजबाला का पनघट से कन्धा पर गगरी रक्खे हुए आने का चित्र खींचा है। देखिये—
"सिर पर गागर, गागर पर मटकी, माथा पै हेरी मटकी लेकर चले॥"

इसके अतिरिक्त मीरा ने ग्रामों पर भी सुन्दर पद कहे हैं। व पर इनकी भक्ति भावनाएँ के कारण अप्रकाश्य हैं।

यथा—

> "कौन गुमान भरी, तू वसी, कौन गुमान भरी।
> अपने तन पर छेद परेंचे, वाला तू बिछुरी॥
> जाति-पाँति सब तोरी मै जानूँ, तू बन की लकरी।
> 'मीरा' कहे प्रभु गिरिधर नागर, राधा से क्यू बिछुरी॥"

तथा—

> "श्री राधारानी, दे डारो जी वशी मोरी।
> हीरे की ना है, रूपे की ना है, हरी बाँस की पोरी।
> काहे ते गाऊँ, करताल बजाऊ, काह ते लाऊँ गइयाँ घेरी॥
> मुँह ते गाओ, करताल बजाओ, लकुटते लाओ गइयाँ घेरी।
> 'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, मै तो चरन की चेरी॥"

मीरा की कविता की विशेषता और हिन्दी-साहित्य में उनका स्थान

हिन्दी-साहित्य में मीरा का क्या स्थान है, इसका निर्णय रसिक पाठकों पर ही छोड़ा जाता है। रहा उनकी कविता का प्रभाव, सो उसके लिए इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि आज लगभग ४०० वर्षों के उपरान्त भी बड़े-बड़े प्रासादोंसे लेकर छोटी-मोटी कुटियों तक में उनके गीत बड़े चाव से गाये जायें। एक तो उच्च कविता का मुख्य आधार कृष्णप्रेम, फिर मीरा की चमत्कारिक प्रतिभा, उस पर भाषा पर अधिकार और गाने योग्य भजनों की रचनाशैली। अब यदि मीरा का काव्य विश्व के श्रेष्ठतम काव्यों में गिना न

जाय तो हो क्या ? हिन्दी के शुद्ध भक्तिमय गीतिकाव्य में तो मीरा का पद कदाचित् ही सूर से उतरकर हो। सूर तथा मीरा का आधार क्रमशः श्रीमद्भागवत तथा गीतगोविन्द है, परन्तु मीरा में एक विशेषता है। इष्टदेव को अपनी भक्ति-पुष्पाञ्जलि अर्पण करने के लिए सूर ने गोपियों का आश्रय लिया है, परन्तु मीरा को किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं। उनका हृदय ही उनकी वीणा है, सुननेवाला कहीं मथुरा अथवा द्वारका का वासी नहीं, वह तो उनके हृदय में ही निवास करता है। इसी से मीरा की कविता में व्यक्तित्व की गहरी छाप लगी हुई है। हृदय के सच्चे उद्गार होने के कारण उनकी कविता भावुकतामयी है। इनके पदों की वाणी कृत्रिमता-शून्य ललित, कोमल तथा मधुर रसपूर्ण है। मीरा की कविता में स्वाभाविकता, सरलता, प्रेमपरता का यथोचित सामञ्जस्य है। हृदय वाद्ययंत्र है, रसना गज़ है, इच्छा रागिनी है और भाषा झङ्कार। आनन्दविह्वल मीरा की तंत्री की झङ्कार देखिये, कैसे कोमल सुरों में सुनाई पड़ती है।—

"बसो मोरे नैनन में नँदलाल।
मोहनी मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजन्ती माल॥
छुद्र घंटिका कटितट सोभित, नूपुर सबद रसाल।
'मीरा' प्रभु संतन सुखदाई भक्तबछल गोपाल॥"

इस पद के पढने मात्र से हमारी आँखों के सामने कृष्ण की साँवली मूर्ति, गुलाबी होठों पर वंशी की तान सुनाते, दिखाई पडने लगती है, तो उस समय मीरा के हृदय की क्या दशा होती होगी, जब वह स्वयं हाथो में करताल ले, इस भजन को "देवगाधार" में, प्रात.काल, अनन्य भाव से, अपने गिरिधर नागर के सम्मुख, गाती होगी। मीरा के हृदय-कुञ्ज मे से काव्य के फव्वारों से उत्पन्न होनेवाली प्रेमोर्मियाँ सचमुच अन्त करण को अत्यन्त प्रशान्त और सुखमय कर देती हैं।*

---

* जहाँ तक प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों से पता चलता है, वहाँ तक, लेखक के मत से, "मीरा" नाम ही शुद्ध प्रतीत होता है। पर हिन्दी में "मीरा" लिखने का ही प्रचलन हो गया है। इसीलिए इसमें भी "मीरा" के बजाय "मीरा" रूप ही दिया गया है।—सम्पादक।

-

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव

हिन्दी-साहित्य पर संस्कृत साहित्य का कहाँ तक प्रभाव पड़ा, यह जानने के लिए पहले यह देख लेना चाहिए कि संस्कृत साहित्य में कौन-कौन विषय प्रधान रूप से पाये जाते हैं, और उनमें से किन किन विषयों का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर कहाँ तक पड़ा है। और इसके उपरान्त हिन्दी साहित्य के इतिहास को, आदि से अन्त तक, देख जाना चाहिए और अनुसन्धान कर निर्णय करना चाहिए कि हिन्दी में कौन कौन से ऐसे विषय हैं जो संस्कृत-साहित्य के आधार पर स्थित हैं और कौन ऐसे विषय हैं, जो कुछ अंशों में

वेद है। कहा जाता है, स्मृति (स्मरण रखने की वस्तु) श्रुति (सुनी हुई वस्तु) का छाया की भाति अनुसरण करती हैं। इनकी रचना पहले सूत्रों में हुई और इतने संक्षिप्त रूप मे हुई कि एक-एक सूत्र की व्याख्या में एक-एक छोटी-मोटी पुस्तक बन सकती है। सूत्रकारो ने सक्षेप-क्रिया की कुशलता में हद कर दी। इतने सक्षेप की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि एक ब्राह्मण के लिए जितने ग्रन्थो को कण्ठस्थ रखना अनिवार्य था, उनका आकार दिन-दिन बढता जा रहा था। उन ब्राह्मणो को भी, जिन्होने हजारों वर्ष तक वेदो की रक्षा स्मृति-पटल में ही की, स्मरण रखने के लिये सक्षेप-करण के उपाय का अवलम्बन करना पडा। उन दिनों कागज नहीं था। विद्या लाइब्रेरी में नहीं, बल्कि दिमाग में थी। सो ये गृह्यसूत्र, धर्म्म-सूत्र तथा स्मृतियाँ इतने सक्षिप्त रूप में बनीं कि इनका प्रभाव किसी भी भाषा-साहित्य पर पडना असम्भव हो गया। आजकल हिन्दी मे मनु आदि का कोरा अनुवाद-मात्र देखने में आता है।

अब हम सस्कृत-साहित्य की उन शाखाओ की ओर मुड़ते हैं, जिनका प्रभाव विशेष से रूप हिन्दी-साहित्य पर पडा है। इसको अगरेजी में Classical Literature कहते हैं। इसको हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) काव्य

(ख) नाटक

(ग) गद्य

(घ) कथा

काव्य

संस्कृत में बड़े बड़े कवियों ने कुछ महाकाव्य लिखे हैं। इनको पद्यमय इतिहास कहना अनुचित न होगा। इनकी सर्ग संख्या १० से २५ तक होती है। और किसी-किसी सर्ग में डेढ़-डेढ़ सौ तक श्लोक होते हैं। इनमें चार बहुत प्रसिद्ध हैं। महाकवि कालिदास का रघुवंश, भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपाल-वध और श्रीहर्ष का नैषधीय-चरित। आधुनिक या प्राचीन, किसी भी हिन्दी-कविता में इनके ढंग पर महाकाव्य की रचना में किसी हिन्दी-कवि ने हाथ नहीं डाला।

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय-रचित 'प्रियप्रवास' का नाम महाकाव्य अवश्य रक्खा गया, पर वह एक बिल्कुल स्वतन्त्र ग्रन्थ है। केवल नाम ही भर उसका संस्कृत महाकाव्यों की अनुकृति है। यह अवश्य है कि छन्द भी दोहा-चौपाई आदि न होकर शिखरिणी आदि संस्कृत के ही हैं और संस्कृत-शब्दों के व्यवहार के भी प्रयत्न किये गये हैं, साथ ही कुछ अवतरण प्रियप्रवास में विद्यमान हैं, पर यह सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रियप्रवास पर संस्कृत महाकाव्यों का प्रभाव पड़ा है। और नहीं के लिए यदि मान भी लिया जाय कि पड़ा है, तो भी किसी एक

कवि की कृति पर यह मान बैठना कि हिन्दी-साहित्य पर सस्कृत साहित्य का प्रभाव पडा है, युक्ति-सगत नहीं प्रतीत होता। किसी भाषा के साहित्य पर किसी अन्य भाषा का प्रभाव पडना उस अवस्था मे कहा जा सकता है जब दोनो भाषाओं में किसी एक ढग के कुछ ग्रन्थ मिलें।

नाटक

अब सस्कृत नाटको को लीजिये। कालिदास और भवभूति के समय तक सस्कृत नाटककला अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गई थी, यहाँ तक कि भरत तथा धनञ्जय आदि आचार्यों ने लक्षण-ग्रन्थ तक लिख डाले थे। इनके कुछ ही दिनों बाद नाटककला का ह्रास होने लगा। सस्कृत नाटककार विषय तथा भावों की मधुरता की ओर कम ध्यान देने लगे, और शब्दो के खेलमें अपना सारा पाण्डित्य खर्च करने लगे। यहाँ तक कि अन्त में शब्द-नैपुण्य और वाक्य-नैपुण्य के सिवा और कुछ रही न गया। ग्यारहवीं शताब्दी तक सस्कृत-नाटक का एक प्रकार से लोप हो चुका था। प्राकृत में भी कर्पूरमञ्जरी आदि कुछ प्रथम श्रेणी के नाटक लिखे गये थे। इसके बाद नाटकों के लिए प्राय छै सौ वर्षों का अन्धकारमय समय आता है। मुसलिम राजत्व-काल में हमारी ललित-कलाओं के लिए स्थान न था। इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी-साहित्य पर दृष्टि डालते ही पहले

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नाटक सामने आते हैं। इनके कुछ नाटक तो अवश्य ही संस्कृत नाटकों के आधार पर लिखे गये हैं। संस्कृत नाटकों तथा उनके लक्षणग्रन्थों को भी बाबू साहब ने ध्यान से पढ़ा और मुद्राराक्षस, कर्पूर-मञ्जरी आदि कुछ नाटकों का अनुवाद भी कर डाला, तथा उन्हीं के ढंग पर सत्य-हरिश्चन्द्र आदि कुछ मौलिक नाटक भी लिखे और भारत-दुर्दशा आदि कुछ नाटक ऐसे राजनैतिक तथा स्वदेश-प्रेम के विषयों पर लिखे, जिनका संस्कृत-साहित्य में कहीं पता नहीं है। इन्होंने धनञ्जय के दशरूपक के आधार पर नाटक के लक्षणों का भी कुछ निरूपण किया है।

बाबू हरिश्चन्द्र को छोड़कर अन्य नाटककारों की कृतियों में संस्कृत नाटक का प्रभाव नहीं ज्ञात होता। बाबू [illegible] ([illegible]) तक अवश्य कुछ और भी कवियों ने संस्कृत नाटकों के आधार पर ग्रन्थ लिखे हैं, जैसे नान्दी का मङ्गल-पाठ और सूत्रधार का आकर नटी या पारिपार्श्विक (साथी) से कथोपकथन में लगे जाते थे। नाटक के विषय तथा कवि के [illegible] का परिचय कराना और फिर किसी प्रकार पात्र का प्रवेश कराके चले जाना आदि, [illegible] के पीछे के कुछ नाटकों में पाया जाता है। और कुछ बातें जैसे विष्कम्भक ([illegible]) आकाश-भाषित स्वगत कथित आदि शब्दों से काम लेना भी संस्कृत-नाटक से ही लिया गया है और संस्कृत [illegible]

की एक खास बात जो ससार मे और कहीं भी नहीं पायी जाती, अर्थात् वियोगान्त नाटको का पूर्णतया अभाव, यह भी हिन्दी-नाटकों के अगले दिनों मे ज्यो का त्यो देखने मे आया। वियोगान्त Tragedy लिखते हुए हिन्दू नाटककार का जी न जाने क्यों दहलता है। नाटक की रोचकता बढाने के लिए बीच मे सब प्रकार के दुख, भगा देंगे। यहा तक कि कहीं कहीं वियोगान्त अवस्थातक पहुँच जाती है, पर अन्त में मिलन अवश्य दिखावेंगे और अन्तिम छन्द में जिसे सस्कृत में भरत-वाक्य कहते हैं, सारे ससार की शुभ कामना की प्रार्थना अवश्य की जाती हैं, और कोई दिव्य पुरुष 'एवमस्तु' कहता है और तब यवनिका गिरती है। ये बाते सस्कृत नाटक में अनिवार्य्य हैं, और हिन्दी पर भी इनका पर्य्याप्त प्रभाव पडा, परअब आधुनिक नाटककार पाश्चात्य महाकवियों की कृतियों से अधिक सम्बन्ध रखता है। आधुनिक हिन्दी-रङ्गमञ्च पर बङ्गाली, मराठी और अँगरेजी रङ्गमचों की सुगन्ध अधिक आतीहै। वियोगान्त नाटक हिन्दी में भी लिखे जाने लगे। 'रणधीर प्रेम-'मोहिनी' और 'जयन्त' ये दोनो भी वियोगान्त हैं। अब जनता और लेखक दोनों ही की प्रवृत्ति इस भाँति के नाटक देखने और लिखने की हो रही है। उपस्थित-काल में जो नाटक देखने मे आ रहे हैं, उनमे से सस्कृत नाटक की सुगन्ध तक लोप हो गई है और प्राय नाटक-सम्बन्धी सभी बाते पाश्चात्य-रीति के अनुसार होने लगी हैं।

गद्य

संस्कृत में महाकाव्य और नाटक के ह्रास के साथ ही साथ संस्कृत गद्य का उदय होने लगा। बड़ी-बड़ी कथाएँ और आख्यायिकाएँ लिखी जाने लगीं। इनमें बाणभट्ट की कादम्बरी और दण्डी का दशकुमार-चरित सबसे प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा बड़ी ही प्रौढ़, ओजस्विनी तथा लम्बे-लम्बे समासों से भरी हुई है। एक एक वाक्य कई पन्नों तक चले जाते हैं और कभी कभी चार-चार पन्नों के बाद क्रिया समाप्त होती है। इनमें भी संस्कृत के कवियों ने नक़ल करने लायक कोई बात नहीं रक्खी, चाहे बुराई के कारण ऐसा हो, या अच्छाई के कारण। पाश्चात्य समालोचक ऐसी गढ़ी हुई भाषा देखकर चकरा उठते हैं और कोई-कोई तो यहाँ तक कह जाते हैं कि इसमें शाब्दिक इन्द्रजाल (Verbal jugglery) को छोड़कर और कुछ है ही नहीं। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। इन कथानकों को एक प्रकार का गद्य काव्य कहना चाहिए, जिसमें पद्य की अधिक खूबियों के साथ ही साथ स्वाभाविक रचनाओं की भी कमी नहीं है। भाषा की प्रौढ़ता, इनके और लक्षण सब प्रायः महाकाव्य ही की भाँति होते हैं।

अब हमें भाषा के गद्य-साहित्य की उत्पत्ति और उसके विकास पर साहित्य और उसके प्रभाव पर दृष्टि डालते हुए, जो कुछ समझने की चेष्टा करना चाहिए

कि इसमे कहीं सस्कृत-गद्य की भी छाया है या नहीं। हिन्दी गद्य-साहित्य के सबसे पुराने नमूने राजाओ के परवाने और पट्टे आदि मे मिलते हैं। इसके बाद हिन्दी-गद्य के सबसे प्रथम लेखक गुरु-गोरखनाथजी आते है। इन्होंने कुछ छोटे टुकडे कहे हैं, जिनमें एक विचित्र भाँति के धार्मिक अथवा दार्शनिक उपदेश मिलते हैं। इसके बाद गोकुलनाथजी की चौरासी वैष्णवो की वार्त्ता और २५२ वैष्णवो की वार्त्ता आती हैं। ये वार्त्तायें ठेठ व्रजभाषा मे हैं और महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के पुष्टिमार्गीय उपदेशों का निरूपण करती हैं। यह विषय सस्कृत-साहित्य से एकदम निराला है।

तदनन्तर केशवदास का शृंगार-शतक आता है। इस विषय के लिए मसाला सस्कृत-साहित्य से अवश्य लिया गया होगा। चदौसी के नाथूराम की भागवत के दशम अध्याय की कथा भी ध्यान देने योग्य है। इसकी कथा तक भागवत से ली गयी है, जैसा कि इसके नाम ही से प्रकट हो रहा है।

अब इसके अनतर हम आधुनिक हिन्दी के जन्मदाताओं के सम्मुख आते हैं। ये हैं सैयद इन्शाअल्लाखा, लल्लूजीलाल और प० सदल मिश्र। खाँ साहब की 'रानी केतकी' की कहानी सस्कृत साहित्य से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती, पर लल्लूजीलाल और सदल मिश्र अवश्य, कम से कम कथा भाग के लिए, सस्कृत साहित्य के ऋणी हैं। 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' दोनो का

कथा-भाग संस्कृत से लिया गया है। किन्तु भाषा, शैली और विचार सब इनके अपने हैं। इनके बाद शिवप्रसाद सितारे-हिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह आते हैं। इनकी रचनाओं के विषय में कुछ कहने के पहले, इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा कि यह समय प्रायः १८५० ईसवी का है। इस समय भारत में अंग्रेजी वातावरण अपना प्रभाव फैला रहा था। सर्वत्र स्कूल खोले जा रहे थे, भारत की पुरानी सभ्यता के स्थान पर पाश्चात्य सभ्यता अपना अधिकार जमाने लगी थी। उर्दू पर्शियाना पद्धति पर चलाई गयी। इसी को बन्द करने के लिए शिवप्रसादजी ने देवनागरी वर्णों में एक समाचार-पत्र निकालना आरम्भ किया और उसमें उर्दू शब्दों को शुद्ध हिन्दी के साथ-साथ रखने का दुस्साहस किया। ये हिन्दी और उर्दू को दो पृथक् भाषा मानने को तैयार नहीं थे, पर राजा लक्ष्मणसिंहजी उनका इस विषय में विरोध करते थे। वे उर्दू को दूसरी भाषा समझते थे। उनका अभिज्ञान शाकुन्तल का हिन्दी अनुवाद बहुत प्रसिद्ध है। इसके सिवाय संस्कृत-साहित्य से इन दोनों की कृतियों का कुछ सम्बन्ध नहीं है।

अब इधर सन ७५ के लगभग के बाद, तब लेखकों में सर्वप्रधान स्थान भारतेन्दुजी का है। इनकी कृतियों पर संस्कृत साहित्य का जो कुछ प्रभाव पड़ा, वह नाटक के सम्बन्ध में है, जो ऊपर कहा जा चुका है।

कथा

इसके बाद उपन्यासो का समय आया। संस्कृत में पञ्च-तन्त्र और हितोपदेशादिक जो गल्पमालायें मिलती हैं, उनका प्रभाव हिन्दी की कहानियों पर शायद ही पडा हो। देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने जो ऐयारी और तिलस्मी ढग के उपन्यासों का लिखना आरम्भ किया, उनका संकेत भी संस्कृत-गद्य में कहीं भी नहीं देख पडता। इनके उपरान्त प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी ऐसे बडे-बड़े भाषा के आचार्यों का आविर्भाव हुआ। इनकी भाषा को परिमार्जित हिन्दी कहना चाहिए। भाषा प्राय संस्कृतप्राय हो गई। भाषा को साहित्यिक बनाना इन्होंने इसीमें समझा कि वहाँ भी संस्कृत के तत्सम शब्द भर दिये जायँ, जहाँ मामूली बोल-चाल के शब्द मिलते हैं। द्विवेदीजी ने अपनी पुस्तकों के लिए मसाला महाभारत तथा रामायण से बहुत कुछ लिया है। अब इस समय जो वर्तमान हिन्दी-गद्य तथा उपन्यास की अवस्था है, उसमे बँगला और अंग्रेजी का प्रभाव बहुत अधिक है। साहित्य-क्षेत्र में धीरे-धीरे, परन्तु दृढता के साथ, राजनीतिक तथा सामाजिक प्रश्न घर बनाते जा रहे हैं। विगत असहयोग आन्दोलन तथा ऐसे ही बहुत से अनेक आन्दोलनों की प्रतिध्वनि साहित्य क्षेत्र को चारों ओर से व्याप्त कर रही है। अब कोई भी नया हिन्दी लेखक संस्कृत-साहित्य से नहीं, बल्कि पाश्चात्य

साहित्य की ओर आवश्यक उत्साह (Inspiration) के लिए मुड़ता है।

संस्कृत-साहित्य में दो विषय ऐसे हैं जिनका प्रभाव हिन्दी पर बहुत अधिक पड़ा है। एक पुराण, दूसरे अलङ्कारशास्त्र। पौराणिक कथाओं के बारे में ऊपर जहाँ-तहाँ हम प्रकाश डालते आये हैं। उनके विषय में एक बात का स्मरण रखना बहुत आवश्यक है। वह यह कि पुराणों का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर केवल उनके बाह्यरूप (Form) का पड़ा है, न कि उनकी विचार (Spirit) का। हाँ, अलङ्कारशास्त्रों और रसग्रन्थों के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य में अपना कहने को कुछ भी नहीं है। देव और केशवादिक आचार्यों ने इस विषय पर जो कुछ लिखा, वह मम्मट और विश्वनाथ आदि संस्कृत आचार्यों के ही आधार पर। रस, अलङ्कार, भाव, विभाव, अनुभाव तथा रसों के स्थायी भाव, संचारी भाव, अनुभाव तथा सात्विक भाव, इन सबों की परिभाषाएँ संस्कृत से ही ली गई हैं। और दूसरे ये ही कहाँ से आ सकती हैं? रस तथा रस-सम्बन्धी भावादिक सभी विषयों का ऐसा व्यापक विभाग संस्कृत के आचार्यों ने किया है कि बुद्धि चकरा जाती है। कोई भी बात नहीं छिपाने को रह ही नहीं गई। शृंगार और [illegible] तो ठीक है कि संस्कृत में [illegible] [illegible] [illegible] और कौन [illegible]। [illegible] [illegible], [illegible] बुद्धि, [illegible] [illegible] और

मानव जीवन के मनोभावो के ज्ञाता भी हो सकते हैं, यह इन्हीं लक्षण-ग्रन्थों तथा उनके दिये हुए उदाहरणों से ही विदित होता है। हिन्दी के आचार्यो ने उदाहरण अवश्य अपने निज के दिये हैं। देवजी ने एकाध सञ्चारीभाव तथा एकाध नया अलङ्कार भी निकाला है, परन्तु विचार से देखने पर वे सब इन्हीं के अन्तर्गत मालूम होते हैं।

कोई-कोई हिन्दी कवियो के नायक-नायिका-भेद को मौलिक मानते हैं। पर इसमें बड़ा मतभेद है। दशरूपक तथा भारतीय नाट्यशास्त्र में दिये हुए नायिका-भेद से ही हिन्दीवालों ने नायिका-भेद विस्तार-पूर्वक बनाया है। हिन्दी-कवियों में जो नखसिख वर्णन का इतना बड़ा प्रपञ्च पाया जाता है, वह भी मौलिक नहीं है। महाकवि कालिदासादिक नखसिख-वर्णन पहले कर चुके हैं। हाँ, देवजी का 'अष्टयाम' जिसे प्रेमी और प्रेमिका का बारहो घंटे का कार्य विवरण (Love programme) कहना चाहिये, उनसे भी एक दर्जा आगे बढ गया है। इस प्रकार हिन्दी की शृंगाररस अथवा प्रेम रस की जितनी कविता है, सब पर संस्कृत का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा हुआ मालूम होता है।

हिन्दी के छन्दों पर भी संस्कृत का काफी प्रभाव पड़ा है। विशेषत आधुनिक हिन्दी-कविता पर। मध्यकाल के प्रधान छन्द दोहा, कवित्त, सवैया, सोरठा तथा चौपाई हैं। ये छन्द संस्कृत

छन्दों से भिन्न हैं। हिन्दी के छन्द मात्रिक होते हैं और संस्कृत के वर्णिक। आजकल के बाबू मैथिलीशरण गुप्त, ठा० गोपालशरणसिंहजी आदि खड़ी बोली के कवि, शार्दूल विक्रीडित शिखरिणी इत्यादिक छन्दों को बहुत पसन्द करते हैं।

अब हम बहुत ही संक्षिप्त रूप से हिन्दी-साहित्य के इतिहास के प्रधान प्रधान विभागों पर एक दृष्टि डालेंगे और यह निश्चय करने की चेष्टा करेंगे कि किस विभाग में संस्कृत का प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास को हम तीन प्रधान भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहला १३००—१४०० ई० तक (Bardic Period), दूसरा १४००—१६०० ई० तक धार्मिककाल (Religious Period), तीसरा १६००—१८०० ई० तक शृंगार (Erotic Period)। इस १३०० ई० से लेकर १८०० ई० तक हिन्दी-साहित्य में विचार धारा क्या थी, उसको किस प्रकार का साज रूप दिया गया था और इस कार्य में संस्कृत-साहित्य की कहाँ तक छाया पड़ी है, यही अब निश्चय करना है।

हिन्दी-साहित्य का सब से पुराना ग्रन्थ चन्द का पृथ्वीराज रासो माना जाता है। इसको कुछ लोग हिन्दी का महाभारत कहते हैं। इसमें अनन्त लड़ाइयों का वर्णन है। यह वीर रस का अपूर्व काव्य है और छन्द भी इसमें इसी रस के अनुसार ही प्रकार के लाये गये हैं जैसे भुजंगप्रयात, छप्पय, त्रोटक, तोमर,

इत्यादि। कहीं-कहीं शृंगार का भी वर्णन है, पर बहुत कम। जो कुछ है, पृथ्वीराज के बीसों विवाहों के सम्बन्ध में। इसके बाह्यरूप को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि महाभारत की छाया इस पर पड़ी है, पर विषय तथा विचारधारा, दोनों, पूर्णतया मौलिक प्रतीत होते हैं। इस काल के जितने ख्यात-नामा कवियों को हम जानते हैं वे प्राय सब किसी न किसी राजा के आश्रय में रहते थे और उनकी वंशावली तथा उनके पराक्रम के ऊपर सहस्रों पद बना डालते थे। इसमें हमको बहुत सी ऐतिहासिक बातों का पता चलता है, पर विषयों की सचाई के हिसाब से उनका मूल्य अधिक न लगाना चाहिए। ये कवि विशेषत भाट-वंश के होते थे और लडाइयों में स्वय भी जाते थे तथा वीर रस के उद्रेक करनेवाले कडखे सुना-सुनाकर सैनिकों को प्रोत्साहन देते हुए चलते थे। युद्ध-विद्या में भी ये बहुधा निपुण हुआ करते थे। महाकवि चन्द ने अन्त तक अपने आश्रयदाता पृथ्वीराज का साथ दिया और लडाइयों में बराबर उनके साथ साथ रहे। इनकी कविता सब एक ही बार में नहीं लिखी गई। इनको हिन्दी का आदि कवि कहना चाहिए। जैसे वाल्मीकि ने रामायण लिखकर संस्कृत कविता की नींव डाली, उसी प्रकार चन्द ने हिन्दी कविता की।

इस समय के और प्रसिद्ध कवि जगनायक, जल्हण और उनके पुत्र शारंगधर हैं। जगनायक या जगनिक का आल्हखण्ड

अपठित तथा अल्पपठित लोगों में बड़ा लोकप्रिय हो गया है। इसमें आल्हा-ऊदल की महोबा आदि की लड़ाइयों का ऐसा सजीव तथा उत्साह से रोंगटे खड़े कर देनेवाला वर्णन है कि पुराकाल की लड़ाई के एक-एक दृश्य आँखों के सामने दिखाई पड़ने लगते हैं। परन्तु भाषा इसकी कुछ ग्रामीण-सी है, इसी से देहात के लोगों में इसका बड़ा आदर है। इन लोगों में एक किम्वदन्ती अभी तक चली आती है कि मजाल क्या, कि १५ दिन आल्हा हो, और लाठी न चले। और सचमुच जब ढोल लेकर एक स्वर से आल्हा गाने बैठते हैं, तो एक प्रकार की वीररस की धारा-सी फूट निकलती है। ढंग इसका भी महाभारत से बहुत अंशों में मिलता है, पर विचार नहीं। महाभारत केवल लड़ाइयों का ही खजाना नहीं है यह तो सब प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, नैतिक तथा लौकिक विचारों का अपार भण्डार है। यह वह समुद्र है कि जिस विषय की आवश्यकता मनुष्य को हो सकती है वही इसमें मिल सकता है। बस यह तो मानना ही पड़ेगा कि वीर गाथा लिखनेवाले भट्टकवि कुछ अंश तक अवश्य महाभारत के अनुगृहीत हैं और बहुत अंशों में महाकाव्यों के।

इस काल में दो एक मुसलमान कवियों ने हिन्दी में कुछ शृङ्गार-रस की कविता की है। इनमें कुतुबन-दाऊद की नूरक और चन्दा की कहानी बहुत प्रसिद्ध है। अमीर खुसरो भी इसी समय के हैं। पर इन लोगों की कविता में संस्कृत-साहित्य

की कुछ भी झलक नहीं है। जब ये बिचारे संस्कृत जानते ही न थे तब उसका प्रभाव उन पर क्या पड़ता। इन लोगों तथा भट्ट-कवियों का भाषा और साहित्य, दोनों, पर प्राकृत तथा अपभ्रंश-विशेष डिङ्गल का प्रभाव अधिक जान पड़ता है। गुरू गोरख-नाथजी, जो हिन्दी गद्य के प्रथम लेखक माने जाते हैं, इसी काल में उत्पन्न हुए थे।

अब इसके बाद सन १४०० से १६०० ई० तक धार्मिक-काल (Religious Period) माना जाता है। इस समय के धार्मिक केन्द्र व्रज और अवध हैं। व्रज का साहित्य व्रज-भाषा में है और अवध का अवधी बोली में। व्रजभाषा के दो मुख्य स्कूल माने गये हैं। एक के जन्मदाता निम्बार्क हैं, जिन्होंने गोपी-कृष्ण की उपासना का उपदेश दिया और उनके प्रधान अनुगामी, कविवर नन्ददासजी, हितहरिवंश और बाबा हरीदासजी हुए, दूसरे की नींव महाप्रभु वल्लभाचार्य ने डाली। इन्होंने बालकृष्ण की अर्थात् श्रीकृष्ण के बालरूप की महिमा गायी। इनके प्रधान अनुगामी कवि-श्रेष्ठ महात्मा सूरदासजी हुए यद्यपि इन पर भक्तशिरोमणि निम्बार्क की प्रचारित गोपीकृष्ण उपासना का प्रभाव अधिक पड़ता था। व्रजभाषा के अष्ट-छाप के आठो कवियों में नन्ददास और सूरदासजी की ही कृतियाँ अधिक ध्यान देने योग्य हैं। नन्ददास-रचित भ्रमरगीत और रासपञ्चाध्यायी में पहले गोपियों का विरह है; जब

कृष्ण गोकुल छोड़ मथुरा में रहने लगे थे और गोपियों को योग सिखलाने के लिए उद्धव भेजे गये थे; और फिर श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ रास-क्रीड़ा वर्णित है। इन दोनों में संस्कृत का कहीं भी समर्थन नहीं प्रतीत होता। यदि कहीं किसी प्रकार का सम्बन्ध खींच-तानकर निकाला जा सकता है, तो वह भागवत पुराण का। हो सकता है, नन्ददासजी ने इसमें से कथा के लिए कुछ सहारा लिया हो।

अब सूरदासजी को लीजिए, इनको हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि कह सकते हैं। इनका प्रधान ग्रन्थ सूरसागर है। सूरसागर को कोई-कोई अज्ञानवश भागवत का अनुवाद कह डालते हैं। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। सूरसागर का विषय अवश्य भागवत से लिया गया है, पर उद्देश्य, विचार और शैली में यह बिल्कुल स्वतन्त्र है। भागवत की दसों अवतारों की कथाएँ सूरसागर में भी मिलती हैं, पर सूरसागर के दशम स्कन्ध में कृष्णावतार की कथा इतने विस्तार से कही गई है और शेष अवतारों को इतना संक्षेप में लिख दिया है कि ऐसा प्रतीत होता है, मानो सूरसागर का जो कुछ है, वह दशम स्कन्ध में ही है। इसके बाद नवमस्कन्ध में रामावतार की कथा भी कुछ विस्तार से है। थोड़ा सा विस्तार आदि में है, जहाँ सूरदासजी ने विनय के पद कहे हैं। इनको छोड़ शेष स्कन्धों के कुछ इने-गिने पद हैं, जिन पदों में भी सूरदासजी की उस प्रतिभा का कुछ भी आभास नहीं पाया जाता,

जो दशमस्कध मे पाया जाता है। भागवत में दानवो के वध की भरमार है, पर सूरदासजी ने भयानक रसों से यथाशक्ति दूर ही रहना पसन्द किया है। सूरसागर में तीन बातें मुख्य हैं—श्रीकृष्ण का बालरूप, गोपियो का कृष्ण प्रेम और उनकी अनुपस्थिति में उनका दुख। यही तीन बातें जो सूरसागर में सब कुछ हैं, भागवत मे नहीं के बराबर हैं। फिर भागवत एक धर्म्म-कथा या पुराण है और सूरसागर एक गीति-काव्य। बाह्यरूप और शैली में दोनो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं।

अब हम धार्म्मिक काल के अवधी साहित्य की ओर मुडते हैं। इसकी जड जमानेवाले स्वामी रामानद हुए हैं। इनके प्रधान अनुगामी महात्मा कबीर और तुलसी हैं। स्वामी रामानन्दजी सस्कृत के विद्वान थे और गुसाईं तुलसीदास भी सस्कृत के पूरे पण्डित थे। इन्होने सस्कृत-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। यही कारण है कि तुलसी के ग्रन्थो में जहाँ-तहाँ सस्कृत की छटा दिखाई देती है, खासकर जहाँ कहीं गुसाईंजी अपने धार्मिक और दार्शनिक विचार प्रकट करते हैं। कहीं शकराचार्य की अद्वैतवाद की छटा दिखाई देती है तो कहीं विशिष्टाद्वैत की। इनके रामायण को कोई-कोई वाल्मीकीय रामायण का अनुवाद कहते हैं, जो बिलकुल असगत है। इसकी कथा अवश्य वहाँ से ली गई है, पर केवल वहीं से नहीं, अध्यात्म रामायण, प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक आदि और भी कई ग्रन्थों से। रामायण का कुछ

भाग कहीं-कहीं भागवत से भी मिलता-जुलता है, जैसे किष्किन्धा-काण्ड का वर्षाऋतु वर्णन। रामचरितमानस भी वाल्मीकीय रामायण की भाँति एक प्रबन्ध-काव्य है, पर उसमें भक्ति प्रधान है और शान्त रस की विशेषता पायी जाती है। कथाओं को ध्यान देने से ज्ञात होता है कि मानस अध्यात्म-रामायण का अधिक अनुगामी है और वाल्मीकीय का कम। वाल्मीकीय में राम को अवतार मानकर वहाँ भक्ति का स्पष्ट उपदेश नहीं है, जो मानस का सर्वस्व है और जिसका बीज तुलसी ने अध्यात्म से लिया है। यह तो रहा विषय के बारे में। वाह्यरूप मानस का निराला है। यह दोहा-चौपाई में वर्णित है। अलङ्कार तुलसी के अपने हैं। अनेक स्थानों पर उन्होंने रूपकों की भी मर्यादा उपस्थित कर दी है, जो संस्कृत ग्रन्थों में नहीं है। मानस के उपरान्त तुलसी के और भी कई ग्रन्थ मिलते हैं। उनमें गीतावली और कवितावली मुख्य हैं। इनमें संस्कृत के प्रभाव का पूरा अभाव है।

अब कबीर को लीजिए। इनका स्थान हिन्दी-साहित्य में एक दम निराला है। इनके दार्शनिक विचार तो संस्कृत के अद्वैत वादियों से बहुत कुछ मिलते हैं, पर ये स्वयं संस्कृत नहीं जानते थे। इनकी कविता में जो कुछ भी संस्कृत की झलक आयी है वह इनके गुरु स्वामी रामानन्द से होकर आयी है। कबीर तथा उनके अनुयायी नानक और दादू आदि की [illegible] कविता में संस्कृत

एकदम नहीं है, यह कहना भी अनुचित न होगा। इनमे से बहुत मे निरक्षर (Illiterate)थे। कबीर स्वय ऐसे थे। इन लोगो ने एक स्वर से वेद-पुराण आदि तथा सगुण उपासना की निन्दा कर डाली है।

इसी काल मे प्रेम की धारा बहानेवाले कुछ रसीले मुसलमान कवियो ने शृगाररस की उत्तम पुस्तकें लिखी हैं, जैसे जायसी का पद्मावत और अखरावट। कुतबन मियाँ की मधुमालती, मुग्धावती और प्रेमावती, उसमान की चित्रावली और नूरमहम्मद की इन्द्रावती। ये सब अवधी भाषा मे दोहा और चौपाइयो मे लिखी गई हैं।

इन सबो मे प्रेमरस को छोडकर कुछ है ही नहीं। और सब बातें तो इनकी सस्कृत-साहित्य से दूर हैं ही, प्रेम का विषय जो इन पुस्तको मे दृष्टिगोचर होता है, वह भी बिलकुल निराला है—खासकर विप्रलम्भ शृगार-वर्णन में तो ये लोग कभी-कभी ऐसी उडान भरते हैं कि हँसी रोकना मुश्किल हो जाता है। इनकी नायिकाएँ जब विरहानल का दीर्घ निश्वास छोडती हैं तो जगलो मे आग लग जाती है और उसके धुएँ से आसमान काला दिखाई देता है। ये लोग सस्कृत नहीं जानते थे। इनके ग्रन्थों मे सूफीमत के सिद्धान्त प्राय दिखाई पडते हैं और ससनवी विचारों की भी कमी नहीं है। इन सब बातो के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि सस्कृत के महाकाव्यों की गम्भीरता

का आभास हिन्दी कविता में यदि कहीं मिलता है तो इन्हीं पद्मावत आदि ग्रन्थों में, यद्यपि इनके लेखकों को इस बात का पता न होगा। रामचरितमानस को कोई-कोई महाकाव्य मानते हैं पर यथार्थ में मानस का ढंग महाकाव्यों का सा नहीं है।

अब केवल शृंगार-काल (Erotic Period) देखने को रह गया है। इसका समय सन् १६००—१८००ई० तक माना जाता है। यह वह समय है, जब हिन्दी कविता उन्नत शिखर पर पहुँच गई थी और जिसके बाद उसका अधःपतन आरम्भ होगया। केशव, देव तथा मतिराम जैसे बड़े-बड़े साहित्याचार्य इसी समय के हैं। विलासपूर्ण मुगल राजदर्बार में इन कवियों का अधिकाधिक संसर्ग होने के कारण इनकी कविता में शृंगार और शृंगार में भी नायिका वर्णन का साम्राज्य पाया जाता है। साथ ही इसके यह समय भी वही था, जब संस्कृत-साहित्य का सबसे अधिक प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा हुआ दिखाई देता है। हिन्दी के प्रथम आचार्य केशव ने अपनी प्रिया में जिन लक्षणों का निरूपण किया है, वे संस्कृत से भिन्न नहीं हैं। परन्तु इस विषय पर हम पहले कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। अब उनके दुहराने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इन शृंगारी कवियों के बीच में, [illegible] सम्प्रदाय में गुसाँई के [illegible] राधा कृष्ण की [illegible] भी दिखाई पड़ जाती है। इनकी कविता पर [illegible] का—(केशव

चद का—प्रभाव पडा हुआ मालूम होता है। इसी ढग के कुछ कवि और भी इस काल मे हुए हैं। जैसे—

गोरेलाल	छत्रप्रकाश के रचयिता	
सूदन	सुजान-चरित	"
पद्माकर	हिम्मतवहादुर	"

और मुरलीधर आदि।

शृगारी कवियों में मुख्य देव, केशव, विहारी तथा मतिराम हैं। विहारी की सतसई भी सस्कृत के प्रभाव से मुक्त नहीं है। सस्कृत कवि इस प्रकार की सप्तशतिकाएँ और शतक वहुत से लिख चुके हैं।

इस काल के वाद आधुनिक काल का समय आता है। इसे १८००ई० से लेकर आजतक समझना चाहिए। यह गद्य-काव्य तथा नाटक का युग है। इस युग के शुरू मे शृङ्गार की प्रधानता चली आई है, पर इधर कुछ दिनो से साहित्यिक वातावरण विलकुल वदल गया है। अव नये-नये विपय, जिनकी कल्पना भी पहले के साहित्य मे न थी, अव के साहित्यक्षेत्र में अवतीर्ण कर रहे हैं, जैसे राजनीति, राजनीतिक क्रान्तिकारी विचार, सामाजिक क्रांतिकारी विचार तथा छायावादी कवियो के विचार इत्यादि। कविता अव विशेपत खडीवोली मे होती है। ऐसी अवस्था मे यहाँ सस्कृत-साहित्य का प्रभाव ढूँढना मख मारना है।

इस लेख को समाप्त करने के पहले छायावादी कवियों

की कविता के विषय में एक बात कहे बिना नहीं रह सकता। इस स्कूल के जन्मदाता Mystic शिरोमणि (रहस्यवादी) कबीर मालूम होते हैं। उन्हीं के आधार पर बङ्गाल के छायावादी कवियों की एक गोष्ठी बनी, जिसमें प्रमुख कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। इनको गूढ़ाति-गूढ़ दार्शनिक विचारों से भरे हुए कबीर के पद शायद बहुत रुचते हैं। इसीसे शायद कबीर के सैकड़ों पदों का इन्होंने अनुवाद भी बँगला में कर डाला है, और इसी प्रकार कुछ भावों से पूर्ण बहुत से पद कवि-सम्राट ने स्वतन्त्र भी बनाये हैं। इनकी देखा-देखी कुछ और बङ्गीय कवियों ने इस प्रकार की कविता में हाथ डाला और धीरे धीरे यह नशा अब बहुत से हिन्दी के नवयुवक कवियों के सिर पर सवार हो गया है। यहाँ पर हम पहले यह कह देना उचित समझते हैं कि छायावाद की कविता को हेय सिद्ध करने की आकांक्षा से हम यह नहीं कह रहे हैं। हम भी बहुतों की भाँति और की छायावादी कविता पर मुग्ध होते हैं, पर इसलिये कि उसमें हृदय में एक अलौकिक आनन्द का सञ्चार होता है। परन्तु उसका अनुकरण करनेवाले जिन्हें [illegible] कविता के नाम [illegible] हैं और विचार-[illegible] की ओर नहीं देखते। अब यह होता है कि हमारे जैसे [illegible] की बुद्धि [illegible] शोधित करने पर भी कोई [illegible] नहीं निकलता। [illegible] है। इसका

यदि ध्वनि-काव्य या व्यङ्ग-काव्य भी मान लें, तो भी कुछ व्यङ्गार्थ तो निकलना चाहियेही। पर यहाँ घटो सिर मारें, तो भी कोई मानी नहीं निकलता। कविता का महत्व इसी में नहीं है कि कोई उसे समझ ही न पाये।

आजकल की कविता में दो बातें संस्कृत की अवश्य हैं। वह है संस्कृत के शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग और संस्कृत के अच्छे-अच्छे वृत्तों का सहारा लेना। आधुनिक खड़ी बोली के कवियों को संस्कृत के छन्द और तत्सम शब्द बड़े उपयोगी जँचने लगे हैं। यह बात यहाँ तक बढ़ गई है कि यदि क्रिया या कारक के चिन्ह हटा लिये जाँय तो बिलकुल संस्कृत की ही कविता मालूम हो। इससे यदि कोई बात प्रकट होती है तो वह भाषा की दुर्बलता है। स्मरण रहे कि संस्कृत और हिन्दी दो विभिन्न भाषाएँ हैं। दोनों के विषय एक हो तब तक कुछ हर्ज नहीं, पर भाषा एक न हो जानी चाहिए।

—गणेशप्रसाद द्विवेदी

भारत में समाचार-पत्रों का विकास
और
हिन्दी-अखबारनवीसी पर एक दृष्टि

भारत में समाचार-पत्रों के संचालन का आरम्भ इङ्गलैण्ड के समाचार-पत्रों के आधार पर हुआ है। दोनों देशों के समाचार-पत्रों में विशेष समानता भी है। जिस प्रकार इङ्गलैण्ड के समाचार-पत्रों द्वारा सार्वजनिक लोकमत तैयार किया जाता है, उसी प्रकार भारत में भी समाचार-पत्रों द्वारा लोकमत तैयार किया जाता है। दोनों ही देशों के पत्रों के [illegible] [illegible]

अपने कर्त्तव्य का पालन करने की तरफ अधिक सचेष्ट रहते हैं। यद्यपि यह सच है कि भारत मे एक भी ऐसा दैनिक, साप्ताहिक अथवा मासिक-पत्र नहीं है, जिसकी ग्राहक-सख्या लण्डन के बडे अथवा प्रान्तीय समाचार-पत्रो मे अधिक हो, तथापि वर्तमान शासन के वातावरण में भी भारतीय समाचार-पत्र जनता पर बेहद प्रभाव डालते हैं।

भारत मे समाचार-पत्रों का उद्भव, उनका विकास और सम्पादनकला की वृद्धि एव व्यवसाय की उन्नति का वास्तविक आरम्भ सन १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा के जन्म से होता है। यद्यपि भारत में युगान्तर करनेवाली उस घटना से पहले भी भारत में समाचारपत्र थे, किन्तु समाचार-पत्रो द्वारा राजनीतिक शिक्षा तथा प्रचार-कार्य्य का आरम्भ सन् १८८५ से ही होता है। इस समय से पहले भारत मे उन्हीं समाचार-पत्रों का विशेष आदर था, जो अग्रेजो की सम्पत्ति थे और जिनका सम्पादन भी अग्रेजों ही के द्वारा होता था। ये समाचार-पत्र ब्रिटिशराज का गुणानुवाद गाते थे और गवर्नमेंट के विचारों का सदा समर्थन करते थे। दो-एक जो देशी 'समाचार-पत्र थे, वे भी इन्हीं अंग्रेजी समाचार-पत्रों का अनुकरण करते थे। किन्तु राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय समाचार-पत्रों को एक अकृत्रिम महत्व मिला। उनके रुख में जो परिवर्तन हुआ, उससे

सरकार के समर्थक अंग्रेजी समाचार-पत्रो को भी अपना रुख बदलने के लिए लाचार होना पडा।

सन् १८८५ के पहले भारत के अधिकाश समाचार-पत्रो में इङ्गलैण्ड की राजनीति, आयर्लैंड की समस्या और उत्तरी पश्चिमी सीमान्त पर रूसी हमलों के खतरे पर ही विचार किया जाता था। भारतीय प्रश्नों और देश की अवस्थाओं का उनमें जिक्र भी न होता था। यदि होता भी था, तो उनको कोई महत्व न दिया जाता था। किन्तु भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की कार्यवाहियों ने, ब्रिटिश और भारतीय प्रश्नों पर, नये दृष्टि-कोण से विचार करने के लिए, भारत के समाचार-पत्रो को, पर्याप्त मसाला दे दिया। इसी मसाले से परिपुष्ट होते हुए, गत ४० वर्षों में, भारत के समाचार-पत्र फलते-फूलते हुए विकास की वर्तमान अवस्था तक पहुँचे हैं।

भारत में सम्पादन-कार्य्य की आरम्भिक अवस्था में बम्बई में टाइम्स आफ इण्डिया का विशेष मान था। आज की तरह उस समय भी 'टाइम्स" भारत के ऐंग्लो-इण्डियन समाचार-पत्रों का मुखिया था। यह समाचार-पत्र' आरम्भ से ही भारतीयों की राजनीतिक आकाक्षाओं का विरोधी रहा है। इसके सम्पादकगण भी समय-समय पर भारत में अंग्रेजी हितों की रक्षा करते रहे हैं। भारतीय आकाक्षाओं का विरोध करते हुए भी यह पत्र भारतीयों के भावों को ऐसी उत्तमता से प्र

करता था कि इस पत्र में प्रकाशित नोट रायटर द्वारा इङ्गलैण्ड भेजे जाते थे और वहाँ के 'टाइम्स' तथा अन्य लोकमान्य पत्रों में प्रकाशित होते थे। उन्हीं दिनों बम्बई में 'बाम्बेगजट' नामक एक दूसरा पत्र भी निकलता था। यह पत्र आयरिश होमरूल का पक्षपाती था और इसी साधारण बात पर, जिससे भारत का कोई सरोकार न था, इस पत्र और "टाइम्स" में खटपट रहा करती थी। दोनों एक-दूसरे के प्रचण्ड विरोधी थे। "बाम्बेगजट" का मालिक ग्रेटन जियरी नामक एक आयरिश था। हृदय से वह एक होमरूलर था। यही कारण था कि उन दिनों का योरपियन समाज उसे घृणा की दृष्टि से देखता था।

उन दिनों बम्बई में एक भी देशी अंग्रेजी दैनिक न था। "इण्डियन स्पेक्टेटर" नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिक जरूर था जिसमें भारतीय जनता और भारतीय प्रश्नों पर अधिक ध्यान दिया जाता था। स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में इस पत्र के विचारों का भारतीयों में विशेष मान था, किन्तु सार्वजनिक नीति के सम्बन्ध में इस पत्र का कोई विशेष महत्व न था। 'सार्वजनिक नीति' तो एक प्रकार से 'टाइम्स' और 'बाम्बेगजट' की सम्पत्ति हो चुकी थी। यह दशा तब तक रही, जब तक कि 'बम्बई समाचार' और 'जाम-ए-जमशेद' नामक दो गुजराती दैनिकों का प्रकाशन बम्बई में नहीं हुआ। इन देशी पत्रों के आक्रमणों का अंग्रेजी दैनिकों के एकाधिकार-पर विशेष आघात पहुँचा और

लाचार होकर उनको गुजराती से अंग्रेजी में अनुवाद करने के लिए दो पार्सी रिपोर्टरों को भी रखना पड़ा।

मद्रास और कलकत्ता में अंग्रेजी भाषा के देशी समाचार-पत्रों का आरम्भ अन्य स्थानों की अपेक्षा बहुत पहले हो चुका था। हमने ऊपर जिस समय की अवस्था का उल्लेख किया है, उस समय 'हिन्दू-पेट्रियट', 'इण्डियन मिरर' 'बंगाली' और 'हिन्दू' सरीखे देशी अंग्रेजी पत्रों का भारत में अच्छा मान था। ये समाचार पत्र सरकार तथा उसके समर्थकों की कड़ी आलोचना करते थे। किन्तु अभी यह विषयान्तर की बात है।

४० वर्ष पहले 'टाइम्स आव-इण्डिया' के साहित्यिक विभाग में एक सम्पादक, दो सहकारी सम्पादक और एक चीफ रिपोर्टर थे। ये सभी इंगलैण्ड से बुलाये गये थे। इनके अतिरिक्त ४ स्थानीय रिपोर्टर थे, जिनमें दो पार्सी थे। 'बाम्बे-गजट' का भी प्रबन्ध इसी प्रकार था।

उन दिनों बम्बई में 'बम्बई कारपोरेशन' ही एक ऐसी संस्था थी, जिसकी कार्यवाहियों को लोग प्यार से पढ़ते थे। दोनों अंग्रेजी पत्रों में कारपोरेशन की विस्तृत कार्यवाही छपती थी और इस काम के लिए विशेष चीफ रिपोर्टर नियुक्त किये जाते थे। उन दिनों छापे पढ़ने के लिए लोग बहुत ही लालायित न रहा करते थे और खबरों के छपने में २४ घण्टे की देरी पर लोग कुछ भी ध्यान न देते थे। समाचार-पत्रों में सार्वजनिक

सभाओं की रिपोर्टों और हाईकोर्ट के केसों को पर्य्याप्त स्थान दिया जाता था। उस समय 'एसोसिएटेड प्रेस' जैसी सस्था का किसी को गुमान भी न था। इसीलिए विशेष सवाददाताओं के लिए कार्य्यक्षेत्र बहुत ही विस्तृत था।

भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के आन्दोलनों का प्रथम फल १८९२ के इण्डियन-कौन्सिल्स-ऐक्ट के रूप मे प्रकट हुआ। इस कानून के अनुसार कुछ लोक-सस्थाओं को निर्वाचन का अधिकार दिया गया। इसी के अनुसार सुप्रीम और प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों को शासन के सम्बन्ध में सरकार से प्रश्न करने तथा सालाना बजट पर विचार करने का भी अधिकार दिया गया। इस कानून के १५ वर्ष बाद भारत को मिन्टो-मार्ले सुधार-स्कीम मिली। इन सुधारों के परिणाम-स्वरूप जिन व्यवस्थापिका-सभाओं की स्थापना हुई, उनमे किये गये वादविवाद तथा प्रश्नोत्तरों से भारत के समाचार-पत्रों को नयी उत्तेजना मिली। देश के प्रमुख पत्रों की पृष्ठ-सख्या मे वृद्धि होने के साथ ही उनके मूल्य मे भी वृद्धि हुई। इसी समय से समाचार-पत्रों के कार्य्यालय मे प्रबन्धक के युग का भी आरम्भ हुआ। १९ वीं शताब्दि के अन्तिम वर्षों तक समाचार-पत्रों के विषय में सम्पादक ही सर्वे-सर्वा था। किन्तु अब अवस्था बदल गई और उस समय से आजतक दिनोंदिन सम्पादक की अपेक्षा प्रबन्धक के महत्व मे वृद्धि ही होती गई। वर्तमान समय में भारतीय

समाचार-पत्रों के कार्यालय के दो मुख्य विभाग होते हैं। एक का मालिक होता है सम्पादक और दूसरे का मैनेजर। पत्र की आर्थिक अवस्था का निरीक्षण और प्रबन्ध मैनेजर ही करता है। विज्ञापन-दाताओं का उससे सीधा सम्बन्ध रहता है। अतएव लोग भी सम्पादक की अपेक्षा उसे ही अधिक जानते हैं। सम्पादक को भी रुपये-पैसे के मामले में मैनेजर का ही मुंह तकना पड़ता है।

१९ वीं शताब्दि के अन्तिम वर्षों में बम्बई की अपेक्षा कलकत्ते में अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों की संख्या भी अधिक थी और उनका सम्मान भी अच्छा होता था। उन दिनों 'इंगलिशमैन' ऐंग्लो-इण्डियन पत्रों का मुखिया था और बंगाल में इसी पत्र का सर्कुलेशन सबसे अधिक था। इसकी प्रतिद्वन्दिता 'स्टेट्समैन' से चलती थी। सन १९०६ तक स्टेट्समैन भारतीय आकांक्षाओं और हितों का जबरदस्त समर्थक रहा है। उन दिनों इस पत्र के सम्पादक मि० एस० के० रैटक्लिफ बड़े ही योग्य समाचार-नवीस थे। उनकी लेखनी में यह शक्ति थी कि उनके विरोधी भी उनके लेखों का यथेष्ट लाभ उठाते थे। १९०६ में मि० रैटक्लिफ इंग्लैण्ड चले गये और तब से इस पत्र का सम्पादन भार मि० ए० एच० वाटसन नामक एक अंग्रेज़ के हाथ में है जो 'एक ऐंग्लो-इण्डियन' होते हुए भी बड़े योग्य व्यक्ति हैं। उन्हीं के सतत परिश्रम और योग्यता के परिणामस्वरूप आज स्टेट्समैन

भारत का प्रमुख दैनिक बना है। 'स्टेट्समैन' की ग्राहक-संख्या मे वृद्धि का श्रेय स्टेट्समैन-कार्यालय के योग्य मैनेजर एच० ई० वाटसन को भी है। आप ही के प्रयत्न से लण्डन के दैनिकों के समान 'स्टेट्समैन' में भी एक पृष्ठ चित्रमय दिया जाने लगा है। आजकल 'स्टेट्समैन' भारत मे एक मूल्यवान सम्पत्ति हो गया है। इसके संस्थापकों के ही अनुमान के अनुसार इसकी बाजारू कीमत एक करोड रुपये है। यह बढी-चढी बातें भी कही जा सकती हैं, किन्तु यदि स्टेट्समैन की सम्पत्ति एक करोड की आधी भी हो, तब भी भारत मे, जहाँ समाचार-पत्रों को जाय-चर्क से बहुत कम सहायता मिलती है, एक समाचार-पत्र के लिए इतनी बडी सम्पत्ति खडी कर लेना प्रशंसा की बात है। 'टाइम्स-आव-इण्डिया' और 'पायोनियर' के जाब-प्रेसो को पर्याप्त बाहरी आमदनी भी होती है। यदि स्टेटसमैन, जैसा कि इसके संस्थापकों का विचार था, सदा भारत-हितैषी बना रहता, तो यह निश्चय है कि वह आज की तरह उन्नति के इस ऊँचे शिखर पर कभी न पहुँचता। यह कटु सत्य इस बात को घोषित करता है कि भारत का विद्वत्समाज उस समाचार-पत्र को भी काफी सहायता नहीं दे सकता, जो भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का समर्थक होता है।

स्टेट्समैन के ही आकार और महत्व का मद्रास से 'हिन्दू' निकलता है। मद्रास प्रान्त में इस पत्र की ग्राहक-संख्या सबसे अधिक है। एंग्लो-इण्डियन पत्र 'मद्रास-मेल, इससे बहुत पिछडा है।

१८५७ मे कलकत्ते मे 'इण्डियन डेलीन्यूज" नामक एक अन्य ऐंग्लो-इण्डियन दैनिक भी निकलता था। इसमे व्यापार-सम्बन्धी समाचारों की प्रधानता रहती थी। यदि अवसर से लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाता, तो संभवत आज इस पत्र की गणना कलकत्ते के प्रमुख पत्रों में होती। यह पत्र पहले मि० रार्ट डिगबी और बाद को मि० के० के० सेन के सम्पादकत्व मे चलता रहा। अन्त में स्वर्गीय सी० आर० दास ने इस पत्र को खरीदकर प्रसिद्ध 'फारवर्ड' नामक समाचार-पत्र मे सम्मिलित करके स्वराज्य-पार्टी का प्रमुख पत्र बना लिया। आजकल इस पत्र की ग्राहक-संख्या भी अच्छी है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि भारत के राष्ट्रीय अंग्रेजी दैनिकों मे सबसे अच्छा सम्पादन 'फारवर्ड' का होता है। यही पत्र सर्वापेक्षा अधिक सौष्ठव और [illegible] भी है। गुप्त खबरों के उड़ा लेने के मामले मे भी इसके रिपोर्टर बड़े पटु होते हैं।

कलकत्ते की ऐंग्लो इण्डियन अखबार [illegible] का एक मात्र पूर्ण रूप यहाँ के साप्ताहिक समाचार-पत्र हैं। भारत के किसी अन्य शहर में अंग्रेजी साप्ताहिकों का इतना अधिक जोर नहीं है। कलकत्ते से पहला अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र 'इंग्लिशमैन' [illegible] मे निकाला गया था। यह अब भी व्यापार-सम्बन्धी पत्र है। प्राय इसी समय 'इण्डियन इकॉनॉमिस्ट' नामक एक दूसरा पत्र भी निकाला गया था। [illegible]

सर आशुतोष मुकर्जी इसी पत्र मे गणित-सम्बन्धी उन लेखों को लिखा करते थे, जिनको अमेरिकन तथा योरपियन विद्वान भी विशेष रुचि से पढकर लाभ उठाते थे।

भारतीय सम्पादन कार्य्य में प्रगति की दूसरी सीढी का निर्माण बग-भग के समय मे हुआ था। इस घटना ने बगाल मे खलबली मचा दी थी। बग-भग-आन्दोलन ने भारतीय महत्वाकाक्षा के आन्दोलन को एक जबरदस्त राष्ट्रीय रूप दे दिया। इस आन्दोलन को सफलता मिली, किन्तु इसके परिणाम-स्वरूप भारत की राजधानी कलकत्ते से हटाकर दिल्ली बना दी गई। प्राय उन्हीं दिनों भारत में एसोसिएटेड प्रेस-आफ-इण्डिया ने जन्म ग्रहण किया। सन् १९०३ मे कर्जन दरबार मे पेश्तर कलकत्ते के तीन अग्रेजी दैनिक गवर्नमेट के हेडकार्टरों से खबरें उडाने के लिए विशेष सम्वाददाताओ को नियुक्त करते थे। उनका सबसे अधिक समय शिमला के हेडकार्टर मे बीतता था। उन दिनो सरकार की दृष्टि में स्थानीय 'पायोनियर' का बडा सम्मान था। यह पत्र एक प्रकार से सरकारी सरक्षण मे चलता था। शिमले मे उन दिनो इसके विशेष सम्वाददाता हावर्ड हेन्समैन बडे चतुर रिपोर्टर थे। उन पर सभी सीविल एव मिलिटरी अधिकारियों की कृपा रहती थी और इसी से वे अनेक ऐसी महत्वपूर्ण और ज्ञातव्य खबरें पा लेने में सफल होते थे, जो दूसरे पत्रों के सम्वाददाताओं को न मिलती थीं।

ये खबरें 'पायोनियर' के प्रथम पृष्ठ पर छपती थीं। प्रकाशित होने के बाद सारे भारत में ये खबरें ब्राडकास्ट की जाती थीं। सरकारी हेडक्वार्टर्स की खबरों का यह एकाधिकार केवल पायोनियर को प्राप्त था। पायोनियर के इस एकाधिकार को छीनने के उद्देश्य से ही कलकत्ते के दैनिकों ने अपने विशेष प्रतिनिधि को शिमला भेजने की आवश्यकता समझी थी। उन दिनों शिमला में "इङ्गलिशमैन" के मि० बक, "स्टेट्समैन" के मि० कोट्स और "इण्डियन-डेली-न्यूज़" के मि० हेडाम विशेष सम्वाददाता थे। ये तीनों मिलकर मि० के० सी० राय नामक एक बङ्गाली की सहायता से सरकारी खबरों को पाते थे।

बक और कोट्स ही एसोसिएटेड प्रेस के प्रथम डाइरेक्टर हुए। मि० राय इनकी सहायता करते थे। भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरों में प्रेस की एजेन्सियों के कायम हो जाने के बाद मि० राय ने भी एसोसिएटेड प्रेस के डाइरेक्टर का पद प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की और इनकार किये जाने पर उन्होंने बक और कोट्स का साथ छोड़कर मि० यू० एन० सेन नामक एक चतुर व्यक्ति के साथ प्रेस-न्यूज़ नामक एक दूसरी संस्था कायम की। इस नयी संस्था की प्रतिद्वन्द्विता को एसोसिएटेड प्रेस बर्दाश्त न कर सका और लाचार होकर बक और कोट्स को मि० राय की शर्तों को मानकर उन्हें डाइरेक्टर बनाना पड़ा। आगे चलकर कोट्स के [illegible]

लिया। अब यही संस्था भारत के सभी समाचार-पत्रों को खबरें वितरित करने के लिए प्रधान जरिया है। इस संस्था को सरकारी संरक्षण भी प्राप्त है। अभी हाल मे 'फ्री प्रेस' नामक एक अन्य संस्था भी भारत मे कायम हुई है। इसके संस्थापक कोई रिकमण्ड साहब हैं। अंग्रेजी के पत्रों की अपेक्षा भारत के राष्ट्रीय पत्रो से इस संस्था को अधिक सहायता मिलती है। यह संस्था जीवन-लाभ के लिए बहादुरी से विपरीत परिस्थितियो का सामना कर रही है। यदि सफलता मिली, तो आगे चलकर यह भी देश में एक चीज होगी। एसोसिएटेड प्रेस ने पायोनियर के एकाधिकार को नष्ट कर दिया है। साथ ही इस संस्था ने देशी तथा विदेशी खबरो का संग्रह करने के लिए अनेक मौलिक तरीकों को भी ईजाद किया है। भारत में एसोसिएटेड प्रेस और 'फ्री प्रेस' को छोड़कर खबरें वितरण करने की दूसरी कोई संस्था नहीं है। खबरों का प्रधान स्रोत 'रायटर' कम्पनी है। किन्तु प्रेस-टेलीग्रामो का मूल्य अब भी इतना अधिक है कि छोटे-मोटे दैनिक उससे लाभ नहीं उठा सकते। एसोसिएटेड प्रेस की दो सर्विसें देश मे प्रचलित हैं। एक छोटी और दूसरी बड़ी। बड़ी सर्विस में खबरें विस्तृत विवरण मे भेजी जाती है और छोटी सर्विस मे बड़ी खबरो का साराश मात्र रहता है। भारत के अधिकाश अंग्रेजी और देशी भाषा के समाचार-पत्र बड़ी सर्विस का मूल्य देने में असमर्थ

होने के कारण छोटी सर्विस को ही अधिक पसन्द करते हैं। यही कारण है कि पायोनियर, इङ्गलिशमैन, टाइम्स और स्टेट्समैन जैसे समाचार-पत्रों की प्रतियोगिता में वे टिक नहीं सकते। उनके सम्पादकों को पत्र में खबरें छापने के लिए कैंची की सहायता लेनी पड़ती है। 'लीडर' सरीखे देशी समाचार-पत्रों का सम्पादन इसी प्रकार होता है। तब भी देश में ऐसे पत्रों की भी उपयोगिता है। ऐसे पत्र राजनीतिक दलों के समर्थक होते हैं। यही उनकी उपयोगिता का प्रधान सबूत है।

भारत के देशी भाषा के समाचार-पत्र अंग्रेजी समाचार-पत्रों की छाया मात्र हैं। अंग्रेजी समाचार-पत्रों की अपेक्षा इन समाचार-पत्रों के निकालने में अधिक परिश्रम और खर्च पड़ता है। तारों द्वारा खबरें अंग्रेजी में भेजी जाती हैं। समाचार-पत्र के आफिस में खबरों के पहुँचते ही अंग्रेजी पत्रों के रिपोर्टर [illegible] कामा, फुलस्टाप और [illegible] [illegible] के निशान भेज देते हैं। किन्तु देशी भाषा के समाचार-पत्रों के रिपोर्टरों को उनका अनुवाद करने की तकलीफ उठानी पड़ती है। कामा, फुलस्टाप [illegible] की अपेक्षा अनुवाद-कार्य अधिक कठिन होता है। [illegible] की [illegible] समाचार-पत्रों के [illegible] की अपेक्षा देशी भाषा के पत्रों में अधिक [illegible] की भी [illegible] पड़ती है। अनेक खबरें ऐसी होती हैं, जिनका ठीक अनुवाद [illegible] नहीं हो सकता, अनुवाद में दोष रह जाता है। [illegible]

होता है कि उनमे एक अंग्रेजी दैनिक की अपेक्षा कम खबरें रहती हैं। देशी भाषा के दैनिक पर जितना खर्च पड़ता है, उसकी अपेक्षा आय बहुत कम होती है और निरन्तर हानि उठाते हुए किसी भी कार्य्य को चलाना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि भारत में हिन्दी भाषा इतनी व्यापक होने पर भी उसके दैनिको की सख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है। साप्ताहिक पत्रो के निकालने मे कम दिक्कत पड़ती है और कोई विशेष व्यय भी नहीं करना पड़ता। खबरे सब अंग्रेजी पत्रो से प्राप्त हो जाती हैं। इसीलिए भारत मे देशी भाषा के पत्रों में साप्ताहिकों की सख्या अधिक है। देशी भाषा के पत्रो की प्रधान उपयोगिता उनके प्रचार-कार्य्य मे है। गाँवो तथा ऐसे शहरो मे, जहाँ अंग्रेजी शिक्षा अधिक व्यापक नहीं है, देशी भाषाओं के पत्रो की अधिक बिक्री होती है। हिन्दी की अपेक्षा बँगला के समाचार-पत्रों का सम्पादन अधिक अच्छा होता है। इसका प्रधान कारण यह है कि बगाली समाज अधिक शिक्षित है और भाषा-साहित्य का अधिक आदर करता है। उस भाषा मे "बँगलार कथा" जैसे पत्रो का सम्पादन तो बिल्कुल अंग्रेजी पत्रो के आदर्श पर होता है। "बगलार कथा" का सम्पादन 'फारवर्ड' प्रेस से होता है। अतएव खबरें प्राप्त करने के लिए इस पत्र को अतिरिक्त व्यय नहीं करना पड़ता, फारवर्ड ही के व्यय से इसका भी काम चलता है।

हिन्दी-पत्रों में 'आज' 'वर्तमान' 'स्वतंत्र' 'विश्वमित्र' और "भारतमित्र" अच्छे दैनिक हैं। इन सब पत्रों में कुछ वर्षों पहले "भारतमित्र" का सम्पादन बहुत ही उत्तम ढंग से होता था। अब यह पत्र अपने आदर्श से नीचे गिर गया है और इस पत्र का सम्पादन क़लम की अपेक्षा शायद कैंची की सहायता से अधिक होता है। खबरों के संग्रह करने में इन सभी पत्रों की अपेक्षा 'स्वतंत्र' शायद अधिक व्यय करता है। इसके कार्यालय में 'फ़्री प्रेस' तथा 'एसोसिएटेड प्रेस' से सीधे तार मँगाये जाते हैं। युक्तप्रान्त में 'आज' और 'वर्तमान' का अच्छा आदर है। ये पत्र घाटे पर नहीं चलते। यही इनकी [illegible] है। किन्तु इनका सम्पादन, सम्पादकीय अग्रलेख और टिप्पणियों को छोड़कर, बहुत ही बुरा होता है। 'आज' तो 'लीडर' का अनुवाद माना जाता है। आरम्भ में 'आज' भी एसोसिएटेड प्रेस और रूटर से सीधे तार मँगाता था, किन्तु व्यय बर्दाश्त न कर सकने पर लाचार होकर उसे 'लीडर' की खबरों के अनुवाद-मात्र से ही सन्तोष करना पड़ा। यह सब होते हुए भी यह पत्र बहुत ही अच्छा और माननीय है। खबरों के लिए 'वर्तमान' को भी अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों का मुँह ताकना पड़ता है। बनारस और कानपुर में कोई अंग्रेज़ी दैनिक नहीं है इसी लिए इन दोनों शहरों में इन दैनिकों की [illegible] है। प्रयाग से एक अच्छे दैनिक के निकालने की बातें [illegible]

है और 'लीडर' अथवा 'पायोनियर' के संरक्षण मे एक उत्कृष्ट हिन्दी दैनिक निकाला जा सकता है।

हिन्दी की अपेक्षा उर्दू दैनिको तथा साप्ताहिको की दशा अधिक अच्छी है। लीथो के कारण उनकी छपाई का कार्य्य जल्दी और कम व्यय पर होता है।

हिन्दी के दैनिको की अपेक्षा साप्ताहिको का सम्पादन अधिक अच्छा होता है, क्योकि साप्ताहिक में धीरे-धीरे काम करने का पर्य्याप्त समय मिल जाता है। सब बातो पर विचार करके कहना पडता है कि भारत में देशी भाषा के पत्रो का भविष्य अच्छा नहीं है। जब तक डाक और भारत-सरकार की कार्य्यवाहियो की भाषा का माध्यम अंग्रेजी भाषा रहेगी, और जब तक देश के सभी कार्य्यों मे अंग्रेजी की प्रधानता रहेगी, तब तक देशी भाषा के अखबारो की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा के अखबारो को विशेष सुविधाएँ प्राप्त होती रहेगी और उनकी प्रतिद्वन्द्विता मे देशी भाषा के अखबार टिक न सकेगे। देशी भाषा के समाचार-पत्र न तो अंग्रेजी समाचार-पत्रो की तरह न एडवेन्चरस ही हो सकते है और न रोमैण्टिक ही। किन्तु अंग्रेजी भाषा के पत्रो का भविष्य अच्छा है। भारत को स्वराज्य मिल जाने पर भी देश मे अंग्रेजी भाषा की प्रधानता रहेगी और उस समय भारतीय जनता अंग्रेजी राष्ट्रीय समाचार-पत्रो का अधिक कदर करेगी।

इधर हाल में अंग्रेजी समाचार-पत्रों ने चित्रों के प्रकाशित करने का एक नया रूप धारण किया है। चित्रों की माँग की पूर्ति के लिए 'एसोसिएटेड प्रेस' और 'फ्री प्रेस' के आधार पर कई फोटो एजेन्सियाँ भी भारत में कायम हो गयी हैं। कलकत्ता और बम्बई में कई विदेशी फोटो एजेन्सियाँ हैं, जो विदेशी घटनाओं के फोटो समाचार-पत्रों में वितरित करती हैं। अखबार-नवीसी का नया रूप अभी स्टेट्समैन, पायोनियर, ट्रिब्यून, हिन्दुस्तान-टाइम्स, हिन्दू तथा कुछ अन्य प्रसिद्ध अंग्रेजी पत्रों तक ही परिमित है। हिन्दी में भी चित्र छापने की प्रथा के अनुकरण का श्रीगणेश हो गया है। परन्तु इस विषय में भी खर्च से बचने के लिए एक तरीका ग्रहण किया गया है। यहाँ भी अखबार-नवीसी के प्रधान शस्त्र कैंची की अबाध्य गति है। अखबारों में प्रकाशित अच्छे चित्र कैंची से काटकर तथा उनमें कुछ परिवर्तन करके ब्लाक बनवा लिए जाते हैं और उन ब्लाकों का प्रयोग अखबारों में किया जाता है। किन्तु हिन्दी अखबार-नवीसी की ऐसी दयनीय दशा के होते हुए भी उसके अन्त होने का कोई भय नहीं, क्योंकि हर तीसरे वर्ष चुनावों के समारोह में इसके बिना काम चलाना कठिन हो जाता है। ऐसे अवसरों पर समाचार-पत्र पर्याप्त लाभ भी उठा लेते हैं।

—रामधर दुबे

हिन्दी-साहित्य में सामाजिक इतिहास

[१]

बृहदारण्यकोपनिषद् में एक स्थान पर जनक और याज्ञवल्क्य का परस्पर संवाद है। उसमे वाक् किम्वा वाणी की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। जनक पूछते हैं—

का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य

अर्थात्, प्रज्ञता क्या है ?

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—

वागेव सम्राडिति हो वाच । वाचा वै सम्राड्बन्धु -प्रज्ञायत ऋग्वेदो युजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्या उपनिषद श्लोका सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्ट

हुत माशित पायितमय च लोक परश्च लोक सर्वाणिच भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते ।

अर्थात्, हे सम्राट् ! वाक् ही ब्रह्म है, वाक् ही से बन्धु का ज्ञान होता है, वाक् ही से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान व याग, होम, अन्नदानादि निमित्त होनेवाले समस्त धर्म इहलोक तथा परलोक जाने जाते हैं। वाणीद्वारा प्रकट इसी ज्ञान-समुच्चय का नाम वाङ्मय है। मराठी भाषा में साहित्य के अर्थ में प्रायः वाङ्मय शब्द ही का प्रयोग होता है। अतएव वाङ्मय किम्वा साहित्य में न केवल परमार्थ तत्त्वों का विवेचन होता है, वरन् लौकिक एवम् व्यावहारिक ज्ञान भी साहित्य की सीमा के अन्तर्गत हैं। साहित्य का यह व्यापक अर्थ है। योरपीय विद्वानों ने भी सभ्यता और उसके साथ बौद्धिक विकास के ज्ञान के साधना में साहित्य को प्रमुख स्थान दिया है।

साहित्य की विशद व्याख्या करने की तो आवश्यकता नहीं परन्तु यह बताने की जरूरत तो है कि काव्य तथा मनोरञ्जना-त्मक ग्रन्थों के रूपों और विषयों पर प्रकट किये गये विचारों ही का नाम साहित्य नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता है कि भाषा के समस्त ग्रन्थों में संगृहीत विचार किसी भाषा के साहित्य का सम्पूर्ण अंग होते हैं। इसलिये मैं साहित्य की व्याख्या करते हुए

लिखा है कि वह सर्वोत्तम विचारों का संग्रह है, दूसरी ओर प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ज्ञानराशि के सञ्चित कोष ही का नाम साहित्य है। इमर्सन से द्विवेदीजी की व्याख्या कहीं व्यापक है। एक सर्वोत्तम विचारों ही को साहित्य मानता है, तो दूसरा सम्पूर्ण ज्ञानराशि को साहित्य का रूप देता है। साहित्य का उद्देश्य निश्चय ही सर्वोत्तम है, परन्तु साहित्य के निर्माता उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम विचार सदैव ही प्रकट नहीं किया करते। यदि साहित्य मनुष्य के विचार-समूह का नाम है, तो वह मनुष्य समाज का प्रतिबिम्ब भी होना चाहिए। यदि नौ सौ वर्ष के हिन्दी-साहित्य मे हम केवल अलङ्कार और रस ही देखते रहे, यदि उसके काव्य में हम राधा-कृष्ण किम्वा नायक-नायिकाओं का अभिसार-विहार ही पाते रहे और यदि उसमें हमे केवल कला के नियमों का दिग्दर्शन ही मिलता रहे, तो कहना पडेगा कि इस साहित्य में जीवन नहीं है। किन्तु देखा जाता है कि जो साहित्य के ज्ञाता और मर्मज्ञ होते हैं, वे ही साहित्य की वास्तविकता से वञ्चित रहते हैं। ग्रामीण जनता से जाकर पूछिए कि तुलसी, सूर और कबीर के काव्यों को सुनकर उन्हें क्या प्रतीत होता है। मेरी धारणा है कि आप उनके हृदय में कबीर का वैराग्य पायेंगे, तुलसी और सूर के राम और कृष्ण की प्रतिष्ठा पायेंगे। सच पूछिए तो साहित्य का निर्माण इसीलिए होता है। जेठ की दोपहरी मे खेत जोतते

हुए स्नेह-प्रपूरित विमानों के 'कहैं कबीर सुनो भइ साधो' या 'तुलसीदास भजो भगवाना' के आलाप में आप साहित्य की जो छटा पायेंगे वह इस कमरे में नहीं, जहाँ कविता और कला की परिभाषा की जाती है, जहाँ अलङ्कार और रस पर विचार किया जाता है।

मुझ पर यह दोष लगाया जा सकता है कि इस व्याख्या में मैं साहित्य को केवल उपयोगितावाद की दृष्टि से देखता हूँ। साहित्य तो बहुत व्यापक अर्थ रखता है, परन्तु मैं तो साहित्य की एक शाखा—शास्त्र को भी इसी दृष्टि से देखता हूँ। कला की दृष्टि से शास्त्र का अध्ययन इने-गिने लोगों को आनन्द देनेवाला भले ही हो और उसके ज्ञान से परीक्षार्थियों का लाभ भले ही हो, परन्तु उससे सर्वसाधारण का क्या हित हो सकता है? गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

कीरति, भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकहँ हित होई।

तुलसीदासजी की आशा ऐसी थी, इसलिए जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया है, उनकी कविता में रसों का परिपाक ऐसा हुआ है, [illegible] सर्वसाधारण के समझने की नहीं है, परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि उन्होंने जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह सर्वसाधारण के लिए नहीं है। यदि ऐसा होता तो आज भारतवर्ष में राम और [illegible] घर घर न [illegible] कि महाराष्ट्रीय ज्ञानदेव के

विद्वान सम्पादक डा० केतकरने लिखा है—'जनता की मनोवृत्ति और काव्योत्पादन का परस्पर निकट सम्बन्ध है। काव्य की परीक्षा जनता अपनी मनोवृत्ति ही के अनुसार करेगी। अत- जनसमाज की मनोवृत्ति ही काव्य की मर्यादा निश्चित् करती है।' जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटी ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—' If you would understand an author, you must understand his age The same thing is just as true of a book If you would fully comprehend it, you must know the age There is an order, there are causes and relations between great compositions and the societies in which they have emerged ' दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि साहित्य और समाज का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। साहित्य के रूप मे हम समाज का दर्शन कर सकते हैं। यही कारण है कि साहित्य को देश का प्राण कहा जाता है। साहित्य के अध्ययन की एक दृष्टि यह भी होनी चाहिए कि उसमें उस देश का सामाजिक इतिहास कहाँ तक और किस प्रकार अङ्कित किया गया है।

[२]

नौ सौ वर्ष से भी अधिक समय बीत चुका। उत्तरी भारत ने अनेक राज्यक्रान्तियाँ देखी, बीसियों राज्यवंशो का संहार देखा। हिन्दी साहित्य अवश्य ही इस इतिहास का साक्षी है। हिन्दू-

साम्राज्य के पतनकाल में जिसका शैशव व्यतीत हुआ, मुगल-साम्राज्य के उत्कर्ष के साथ ही उसके यौवन का विकास हुआ। किन्तु जिस साहित्य ने अपने शैशवकाल में वीरगाथाओं की लोरियाँ सुनी थीं, वही दैव-दुर्विपाक से मुगलों के विलास-वैभव के युग में शृंगारी नायिकाओं के रस में ऐसा डूबा कि हवाई जहाजों और गोलों का भय भी उसे सचेत नहीं कर सका है। फिर इसी बीच में सन्त-महात्माओं ने उसे वैराग्य की ओर घसीटा, तो दूसरी ओर सन्तों ने अपने रङ्ग में उसे रँगना चाहा। जिसके शैशव का अन्त और यौवन का आरम्भ हो, उसे भक्ति और वैराग्य की बातें कैसे सुहा सकती हैं? इस धार्मिक भावना के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप ही में मानो हिन्दी-साहित्य का यौवन शृंगार की गोद में जा सोया और ऐसा सोया कि आजकल की भैरवी भी आज तक गाकर कह रही है—

'सिसकी इती है पै हमेस हू सुहाँ सो सिर,
फागुन की पूरी परिभाषिका सा रहो।
ना ही में मन्द मन्द-मोहन ! हमारी मन,
उगत लगाइ रूप-सागर घने रहो॥

इसी हिन्दी-साहित्य में हम अपने समाज का रूप देखते पाते हैं। इस बारे में कठिनाइयाँ हैं। हिन्दीभाषा सम्पूर्ण भारत की भाषा नहीं है, किन्तु इस भाषा के बोलनेवाले हिन्दुस्तान भारत में फैले हैं। हिन्दू जाति पर मुसलमान साहित्य की संस्कृति का

प्रभाव है, अत हिन्दी-साहित्य में सामाजिक इतिहास की खोजना किसी नवीनता का परिचायक नहीं। फिर गुजराती, मराठी और बगला आदि भाषाओं का भी तो साहित्य है। उन प्रान्तो की सामाजिक व्यवस्था सस्कृत में हिन्दी-भाषा-भाषियों से विभिन्न नहीं है। इस दृष्टि से भी हिन्दी-साहित्य मे समाज के इतिहास का कोई महत्त्व नहीं। ये आपत्तियाँ ठीक हैं। मूलरूप मे समग्र हिन्दू जाति, चाहे उसके अन्तर्गत कितने ही भिन्नभाषा-भाषी हो, एक ही सस्कृति धारण करती हैं, किन्तु यदि एक ही समाज के दो व्यक्तियों मे विचार-भेद हो सकता है, तो कोई कारण नहीं कि एक ही जाति के भिन्न भाषावाले साहित्यो मे अन्तर न पाया जाय। रवीन्द्र की 'चित्रा' मे प्रेम और कर्तव्य का जो चित्रण है, गुजरात के महाकवि नान्हालाल के 'जया और जयन्त' में वह एकदम भिन्न है। तत्व एक है, परन्तु साधन भिन्न हैं। बङ्किम के 'आनन्द मठ' मे जिस समाज की स्थापना की गई है, तत्कालीन अन्य प्रान्तीय साहित्यों में और किसी के मस्तिष्क की ऐसी उपज थी, यह नहीं कहा जा सकता। तुलसीदास का समाज एक आदर्श की भित्ति पर खडा है, तो महाराष्ट्र के राष्ट्रीय सन्त रामदास अपनी समाज-व्यवस्था मे दूसरा ही ढंग खोजते हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि जब वस्तुत हिन्दू जाति की समाज-व्यवस्था एक ही-सी है, तो साहित्य के रूप में विद्वानो द्वारा प्रदर्शित आदर्श समाजो को ऐतिहासिक कहना भूल है। अवश्य ही इति-

इतिहास शब्द का मैं वास्तविक घटनाओं के उल्लेख में प्रयोग नहीं कर रहा हूँ। सम्भव है कि मैं यहाँ समाज-सम्बन्धी जिन बातों का उल्लेख करूँ वे वास्तविकता से परे न हों, परन्तु मेरा लक्ष्य केवल इतना है कि समाज विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर मैं यह दिखा सकूँ कि हिन्दी-साहित्य में इस सम्बन्ध में क्या और किस प्रकार कहा गया है। इसी से इतिहास शब्द को मैंने विचारों के इतिहास के रूप में प्रयुक्त किया है।

[२]

समाज के मूल में व्यक्ति का विकास है। व्यक्ति ही से समाज बनता है। मनुष्य शरीर की नश्वरता स्वीकार करते हुए भी इसने 'नरतन' का महत्व माना है—

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा॥

× × ×

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

—तुलसीदास

× × ×

लख चौरासी जोनि में, मानुष जन्म अनूप।

—कबीर

[illegible] के इस युग में, [illegible] के [illegible] [illegible] विरोध की इस भूमि में, मनुष्य की परिभाषा आदर से नर शरीर पाने वाले आत्मा के रूप में की गई है और इसका यही अनु-

वेद-शास्त्रियों ने यद्यपि मनुष्य की बनावट की ओर पूरा ध्यान दिया है, फिर भी उसे भौतिक दृष्टि से 'हाड-मास का पूतरा' के अतिरिक्त और अधिक महत्व नहीं दिया गया है। तथापि हमारे समाज मे मनुष्य को औजार चलानेवाला प्राणी नहीं कहा है। उन्होने मनुष्य-शरीर को इस प्रकार आर्थिक विकास का साधन न बनाकर पारमार्थिक साधन ही का हेतु माना है। समाज के मूल हेतु मनुष्य के चरित्र-विकास मे, भारतीय और योरपीय सस्कृति मे, यह महान् अन्तर है। हिन्दी-साहित्य मे इस भारतीय चरित्र की पूरी रक्षा की गई है। समाज के कर्तव्यो को पूरा करते हुए भी पद-पद पर यह चेतावनी दी जा रही है—

का निचित रे मानुस ! आपन चीते आछु।
लेहि सजग होइ अगमन मन पछिताव न पाछु ॥

—जायसी

मनुष्य-प्रकृति तीन गुणो से युक्त है—सत्व, रज और तम। थोडे-बहुत अश में प्रत्येक में य गुण वर्तमान रहते हैं। इन्हीं गुणो के न्यूनाधिक्य पर मनुष्य-चरित्र सगठित होता है। हम मनुष्य को उसके सात्विक गुण के कारण देवता समझने लगते हैं और उसकी घोर तामसी प्रवृति के कारण उसकी गणना निकृष्ट श्रेणी मे करने लगते है। परन्तु मनुष्य मे एक विशेषता है, उसमें इन गुणो के ऊपर अ कुश रखने की क्षमता है। इसी से वह भला और बुरा बन सकता है। हमारे यहाँ के साधु और असाधु

पुरुष इसके उदाहरण हैं। प्लेटो ने मनुष्य को तीन भागों में विभक्त किया है, वे हमारे तीनों गुणों में अधिक अन्तर नहीं रखते। किन्तु हमारे विद्वानों ने इस प्रकार का भेद न रखकर सभी मनुष्यों को एक ही श्रेणी में रख लिया है। यही उचित भी है, क्योंकि व्यवहार में प्रत्यक्ष है। हमारे समाज में सत भी हैं असत भी। और प्रायः देखा जाता है कि हमारे यहाँ असत भी राज्याधिकारी बन बैठते हैं। रावण, कंस और हिरण्यकशिपु असत कोटि के मनुष्य हैं। यूरप में आदर्श समाज की कल्पना करनेवाले संघर्ष से दूर भागते हैं। उनमें हमारे यहाँ के शृंगारी कवियों की भाँति 'नारदुमान जन्नत' की कल्पनाशीलता मिलती है। दूसरी ओर हमारे विद्वानों ने शक्ति के विभाजन और विभाजक रूपों को भरकर जीवन-संग्राम में सद्गुणों की विजय और असद्गुणों की हार का जीवित चित्र अंकित किया है।

फिर भी व्यक्तिगत रूप से यह सत्य है कि मनुष्य जीवन की वास्तविकता का अन्वेषण व्यक्ति अनुभव नहीं करता। मनुष्य जीवन की वास्तविकता उसके शक्ति-संचार में है। 'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम' के विचार रखनेवाले इसकी सत्ता को नहीं समझते। हमारे समाज में ऐसे विचार रखनेवाले मनुष्यों की संख्या कम नहीं रही है। फिर, जो लोग निरन्तर दौड़ धूपकर अपना पेट भर लेते और आराम सदैव कर देते हैं वे भी तो मनुष्य जीवन के सुख से वंचित रहते हैं। वास्तविक ... की

भावना का रहस्य अकर्मण्यता मे नहीं रहा है, इसका अनुभव भी हम कर चुके हैं। आज यदि रवीन्द्र की कविता मे खेत में खड़े धूल-भरे किसान के सामने मुक्ति खेलती है, तो, बहुत पहले कबीर साहब हमे यह संदेसा दे गये हैं—

> कोने परा न छूटि हो, सुन रे जीव अबूझ।
> कबिरा मड मैदान मे, कर इन्द्रिन से जूझ॥

किन्तु मनुष्य की शक्ति को वहीं तक बढने देना चाहिए जहाँ तक उसमें आत्माभिमान न पैदा हो। मनुष्य सर्वत्र विजयी नहीं होता। अजेय कहलानेवाला नेपोलियन भी एक दिन हारकर बन्धन में पड गया था। प्रगतिशील जापान मे भूडोल ने टोकियो टापू ही उलट दिया, और अभी उस दिन भयंकर तूफान ने इंग्लैंड मे हाहाकार मचा दिया था। इसी से मनुष्य के अभिमान को अंकुश मे रखने की आवश्यकता है।

> रहिमन अती न कीजिए, गहि रहिए निज कानि।
> सहिजन अति फूले तऊ, डार पात की हानि॥
> तेहि प्रमान चलिवो भलो जो सब दिन ठहराइ।
> उमँडि चलै जल पाट तैं, जो रहीम बढि जाइ॥
> जो रहीम होती कहूँ, प्रभु गति अपने हाथ।
> तौ को धौं किहि मानतो, आप बडाई साथ॥
>
> —रहीम

मनुष्य-प्रकृति का एक लक्षण उसका परस्पर संसर्ग (Asso-ciation) है। यदि हम ध्यान से देखें तो मनुष्य-जीवन का अधिकांश इसी संसर्ग को निबाहने में व्यय होता है। घर-द्वार, कपड़े-लत्ते, खान-पान की वस्तुएँ आदि किस उद्देश्य से संग्रह की जाती हैं? अस्तित्व के लिए; और ये सब वस्तुएँ किस प्रकार प्राप्त होती हैं? परस्पर के सहयोग से। जन्म से लेकर आमरण और कदाचित् उसके बाद भी यह संसर्ग-व्यवहार नहीं छूटता। तीनों प्रकार की आपदाओं से बचने के लिए उसे किसी-न-किसी का सहारा ढूँढना पड़ता है। दूसरी ओर यदि हम मनुष्य की लड़ने-भिड़नेवाली प्रकृति को लें तो उसके लिए भी दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता रहती है। इसको देखते हैं, लड़ाई झगड़े में सहयोग का जितना दृढ़ प्रमाण मिलता है, उतना और किसी अवस्था में नहीं। यदि रावण न होता तो देवताओं का अस्तित्व कहाँ था? यदि रावण-वध न होता तो राम नाम की कल्पना ही कैसे होती? देवतागण जिस समय भयभीत होकर स्तुति करते हैं, उस समय ईश्वरीय वाणी का विधान होता है—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहौं नरबेसा॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा॥
हरिहौं सकल भूमि-गरुआई। निर्भय होहु देव-समुदाई॥

इसमें एक पूरे समाज की सृष्टि का बीज मौजूद है। इधर

किसी समाज का इससे अच्छा नियन्त्रण और कहाँ हो सकता है ? दूसरी ओर संगठित समूहों के कार्यों पर विचार करते हुए प्रश्न हो सकता है कि प्रथमतः उसमें मतैक्य हो नहीं सकता, और यदि हुआ भी, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह समाज के हित के लिए ही है। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज-रायसा ही को लीजिए। पृथ्वीराज के १३—१४ युद्धों में संभवतः तीन चौथाई केवल विवाह के लिए हुए थे। इस दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि इन युद्धों में जिन सैनिकों के प्राण गये, उससे उनका हित हुआ। पृथ्वीराज के इशारे पर और उसके व्यक्तिगत हित के कारण ही असंख्य सैनिकों को मर जाना पड़ा। किन्तु जब रावण के विरुद्ध राम युद्ध की घोषणा करते हैं, तो उसमें न केवल सैनिकों में उत्साह दिखाई पड़ता है, वरन् देवता और मनुष्य सभी ऐसे युद्ध की अभिलाषा करते हैं। ऐतिहासिक काल ही में राणा प्रताप का उदाहरण लीजिए। जिस समय सर्दारों का एक प्रतिनिधि राणा से कहता है—'अन्नदाता' यह आपके कहने की बात है। क्या आप अपने लिए यह कष्ट उठा रहे हैं ? जिस जन्म-भूमि की रक्षा में आप इतने दुःख सह रहे हैं, वह क्या हमारी नहीं है ? उसकी रक्षा क्या हमारा कर्तव्य नहीं है ?' तो यह स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है कि इस समय एक व्यक्ति की आज्ञा का पालन ही समष्टि के हित का कारण है।

समाज में कभी-कभी ऐसी अवस्था भी उत्पन्न हो जाती है,

जब दो व्यक्तियों की अनिच्छा पर भी उन्हें एक दूसरे का साथ देकर उद्देश्य को पूरा करना पड़ता है। उदाहरण के लिए सत्य-हरिश्चन्द्र नाटक की स्मशानवाली घटना लीजिए। शैव्या के पास वस्त्र था ही नहीं, अतएव कफन देने की ओर उसका ध्यान भी न था, उधर हरिश्चन्द्र अपने पुत्र की लाश देखकर कभी कफन की इच्छा न कर सकते थे। किन्तु दोनों के सम्मुख कर्तव्य था और इसीसे इच्छा के विरुद्ध दोनों को एक-दूसरे का साथ देना पड़ा।

मनुष्य के पारस्परिक सहयोग का एक कारण आध्यात्मिक एकता भी है। हिन्दी-साहित्य ने हमारे समाज में इस प्रकार की एकता के बहुत सुन्दर उदाहरण दिये हैं। जिस समय कबीरदास कहते हैं—

> यह तो घट का एक है, एक प्राण दुइ गात।
> अपने जिय से जानिए मेरे जिय की बात॥

तब मनुष्य हृदय की विशालता धारण करके हमारे सम्मुख आ जाती है। तब मुहा की एकता का यह आधार इतना सुदृढ़ है कि कोटि कोटि व्यक्तियाँ इस तरह की एकता को नहीं मिटा सकतीं। यदि आध्यात्मिक एकता की ओर ही प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान चला जाय तो समाज से भेदभाव मिट जावे। यह ठीक है कि सर्वसाधारण जनता इस प्रकार का विचार नहीं [illegible] कर [illegible] ही जीवन के बाहरी [illegible] के लिये [illegible] की [illegible] रहती है [illegible] कभी न [illegible] [illegible]

करना पडता है। परन्तु समाज का यह आदर्श एकदम कल्पित नहीं हैं। अपने ही समान इन्द्रियधारी मनुष्य को देखकर एक दिन प्रत्येक व्यक्ति सोच सकता है कि आखिर वह भी मनुष्य ही है।

[५]

समूह के पश्चात् संस्थाओं का नम्बर आता है और सभ्यता के विकास मे हमे इनका दर्शन बहुधा होता रहता है। यों तो शिक्षा, उद्योग तथा शासन-सम्बन्धी अनेक संस्थाओं की परिगणना की जा सकती है, और हमारे साहित्य में ऐसी संस्थाओं के वर्णन की कमी नहीं हैं, फिर भी विवाह और भाषा के रूप मे दो ऐसी शक्तियाँ है जो मनुष्य-समाज को निरन्तर एकता के सूत्र में आबद्ध रखती हैं। यहाँ हम केवल भाषा ही के सम्बन्ध मे कुछ विचार करना चाहते हैं। भाषा मनुष्य के विचार-प्रदर्शन का एक साधन है और भले ही उस भाषा द्वारा कोई व्यक्ति दूसरे का हित न करे, किन्तु सहयोग के लिए उसे भाषा का आश्रय लेना ही पडता है। भाषा के सम्बन्ध मे प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के ये विचार कितने सुन्दर हैं—'विजित देशों पर विजेता क्यो अपनी भाषा का भार लादते हैं? आस्ट्रिया के जिन प्रान्तों पर इटली का अधिकार हो गया है, वहाँ छल, बल और कौशल से क्यों इटालियन भाषा ठूँसी जा रही है? जर्मनी क्यों अपने दलित देशों या प्रांतों में अपनी ही भाषा का प्रभुत्व स्थापित करने का प्रचड

प्रयत्न कर चुका है ? क्यों अभी उसने उस दिन जर्मन अफसरों और कर्मचारियों को यह आज्ञा दी थी कि रूरप्रांत में फ्रान्सवालों के कहने से खबरदार, अपनी भाषा छोड़कर फ्रांस की भाषा का कदापि व्यवहार न करना ! मुँह से जो शब्द निकालना, जर्मन भाषा ही के निकालना । इसका एक मात्र कारण स्वराज्य और स्वभाषा का घना सम्बन्ध है । यदि भाषा गई तो अपनी जातीयता और अपनी सत्ता भी गई ही समझिए । बिना अपनी भाषा की नींव दृढ़ किये स्वराज्य की नींव नहीं दृढ़ हो सकती । जो लोग इस तत्व को समझते हैं, वे मर मिटते तक अपनी भाषा नहीं छोड़ते । इसीलिए अमरीका में अपने अस्तित्व-नाश का प्रसंग आजाने पर भी योरुपों ने अपनी भाषा को अपने से अलग नहीं किया । जिनमें राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो स्वत्व के जादू को जानते हैं वे प्राण रहते कभी अपनी भाषा का त्याग नहीं करते'। अभी तो जिस समय धार्मिक क्षेत्र में संस्कृत के अभिमानी पण्डितों के पाखण्ड निवारण के लिए भक्ति की आवश्यकता हुई, तो रामानन्द जैसे धर्म प्रचारक ने हिन्दी भाषा द्वारा जनसाधारण को भक्ति और धर्म का प्रचार किया, तभी से तो कबीर जैसा निर्भीक अध्यात्म और समाज-सुधारक पैदा हो सका । गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लोक भाषा का आश्रय लेकर राम-नाम की अनुपम वर्षा की थी । इसी भाषा की रक्षा के लिए [illegible]

नेहरू का मुँह बद कर दिया गया। राष्ट्रीय एकता के लिए तभी तो महात्मा गांधी राष्ट्रभाषा का महत्व प्रकट करते हैं। साराश यह कि समाज के निर्माण में व्यक्ति के साथ उसकी भाषा का भी प्रमुख स्थान है।

[६]

मानव-प्रकृति की आलोचना करते हुए हमने थोडे में यह समझने की चेष्टा की है कि समाज-विज्ञान के सिद्धातो का हिन्दी में व्यवस्थित विवेचन न होने पर भी उसमे वे सब बातें मौजूद हैं, जिनको एकत्रितकर इस शास्त्र का भारतीय दृष्टि से निर्माण किया जा सकता है। व्यक्ति की इच्छा, उसके विचार और प्रकृति के स्वाभाविक प्रवाह को समझकर हम यह भी मालूम कर सकते हैं कि वह एकता और सहयोग की ओर है। इसके पश्चात् जब हम राष्ट्र-व्यवस्था के क्रम को देखते हैं, तो सबसे पहले हमारी दृष्टि कुटुम्ब पर जाती है। कुटुम्ब की व्यवस्था और उसकी सुन्दरता के बडे सु दर उदाहरण हमारे साहित्य में मिलते हैं। हिन्दी के प्राचीन साहित्य के अ तर्गत कुटुम्ब का जो स्वरूप हमें देख पडता है, उसमे कुटुम्बगत प्रत्येक प्राणी के परस्पर व्यवहार नियमों और आदर्शों का वर्णन तो है ही, परन्तु मातृत्व और वात्सल्य के विषय में अतिशय विशद विवेचना की गई है। रामायण की कुटुम्ब-व्यवस्था में हम सभी प्रकार के मनुष्य देखते हैं, भाई, पुत्र, माता, पिता, मित्र, पडोसी सभी कुटुम्ब की

व्यवस्था के सहारे चलते हैं, एक-दूसरे का कर्तव्य भी भली भाँति समझते हैं, यहाँ तक कि पालित पशुओं के प्रति भी कुटुम्ब में स्थान है और मनुष्यत्व इस बात के लिए तत्पर रहता है कि उस कुटुम्ब द्वारा आगत अतिथियों, साधु सत, यहाँ तक कि पशु-पक्षियों तक का कल्याण हो सके।

कुटुम्ब का मूलाधार क्या है, इस सम्बन्ध में हमारे साहित्य में विभिन्न मतों का पोषण किया गया है। हिन्दी-साहित्य के आदिकवि चन्द बरदाई ने पृथ्वीराज के चरित्र-वर्णन में उनके पराक्रम ही के विषय में सब कुछ लिख डाला है। फिर भी उनके इस चरित्र से तत्कालीन राज्य-व्यवस्था का दर्शन मिलता है वहाँ एक बात बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो जाती है कि युद्ध के बीच उसकी प्रेम भावना दबती नहीं। विवाह के कारण इतने युद्धों का करना यदि हम पृथ्वीराज के लिए अपमान भी मान लें, तो भी, यह तो निश्चित हो ही जाता है कि कठोर परिस्थितियों के बीच में भी मनुष्य अपने कौटुम्बिक सुख के लिए स्त्री जाति का सहयोग चाहता है। स्त्री-पुरुष का प्रेम ही कुटुम्ब व्यवस्था का आधार है। आगे चलकर जायसी ने भी अपने काव्य में जिस कुटुम्ब-व्यवस्था का उदाहरण पेश किया है, उसमें भी कल्याणकारिणी गृहिणी स्त्री के होते हुए भी रत्नसेन पद्मिनी के आकर्षण की ओर खिंच जाता है और अपने कुटुम्ब-सुख को [illegible] से छिन्न कर चला जाता है। किन्तु इस [illegible] व्यवहारों से यह

तो प्रकट हो जाता है कि प्रत्येक कुटुम्ब मे एकपत्नी-व्रत का पालन होना चाहिए। ऐसा न होने से कौटुम्बिक शान्ति और सुव्यवस्था नष्ट होजाती है। कृष्ण-चरित्र से हमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं मिलती। भले ही आध्यात्मिक अनुराग की ओट मे शत-शत गोपियो के साथ प्रेम-क्रीडा का रहस्य समझाया जा सके, किन्तु वास्तविक जीवन में उसका कैसा प्रभाव पडता है, यह प्रत्येक समझदार जान सकता है। इसके बाद राम-चरित्र मे हमें वे सभी गुण देख पडते हैं, जिनका होना प्रत्येक कुटुम्ब मे आवश्यक है। किन्तु मै यह बताना चाहता था कि हमारे प्राचीन हिन्दी-साहित्य मे समाज व्यवस्था का जो विषय है, उसमे मुख्यत दो भाव पाये जाते हैं। राम और कृष्ण के जीवन की असाधारणता एव अलौकिकता का विचार न करते हुए हमें रामायण और कृष्ण-चरित्र—सूरसागर—मे कुटुम्ब का मूलाधार 'बालक' समझ पडता है। दूसरी ओर हमारे साहित्य मे प्रेम-कथाओ के रूप मे ऐसे उदाहरण भरे पड़े है, जिनमें कुटुम्ब का मूलाधार केवल स्त्री-पुरुष का प्रेम प्रतीत होता है और उनके परिणामों से यह नहीं विदित होता कि 'बालक' का स्थान कुटुम्ब में सर्व-प्रधान है। हाँ, जायसी ने एक स्थान पर यह अवश्य दिखाने की चेष्टा की है कि पुत्र के चले जाने से सारा कुटुम्ब सूना जान पडता है, किन्तु रतनसेन के उद्देश्य के सामने वह बात छिप-सी जाती है। रतनसेन की माता उससे कहती है—

राजपाट दर परिगह तुम्हहीं सो उजियार।
बैठि भोग रस मानहु कै न चलहु अँधियार॥

× × ×

रोवत माय न बहुरत बाग। रतन चला घर भा अँधियारा॥

सूरसागर में भी हम पुत्र प्राप्ति के लिए नन्द को चिन्तित नहीं पाते, यद्यपि कृष्ण के मिल जाने पर हम उनमें नन्द व यशोदा का अपूर्व लाड़-प्यार पाते हैं। इधर राम-चरित में हम दशरथ को पुत्र के लिए अतिशय चिन्तित देखते हैं। वे पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ और अनुष्ठान करते हैं और मनोरथ [illegible] हो जाने पर अपने जीवन को धन्य मानते हैं। इससे एक निष्कर्ष तो यह निकलता है कि कुटुम्ब का मूलाधार दम्पति-जीवन है और पुत्र उसका स्वाभाविक परिणाम है दूसरी ओर यह बात पायी जाती है कि कुटुम्ब का सुख और उसकी [illegible] सन्तान की प्राप्ति से है और यही उसका परमोद्देश्य है। किन्तु [illegible] बिना कौटुम्बिक जीवन का विकास होता नहीं। [illegible] में दशरथ का जीवन समान ही [illegible] था। [illegible] थे, पर [illegible] और राम-चरित्र का [illegible] हो न [illegible] है। पुत्र के अभाव में कुटुम्ब [illegible] [illegible] के [illegible] में [illegible] यशोदा की [illegible] [illegible] कर रही है—

प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है।
दुख-जल-निधि डूबी का सहारा कहाँ है॥
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैनतारा कहाँ है॥

× × × ×

मुझ विजित जरा का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा॥
धन मुझ निधनी का लोचनों का उँजाला।
सजल जलद की सी कांतिवाला कहाँ है॥

× × × ×

सहकर कितने ही कष्ट औ सङ्कटो को।
बहु यजन करा के पूज के निर्जरो को॥
यक सुअन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा॥
प्रियतम! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है॥
—हरिऔध

× × × ×

यह ठीक है कि संस्कृत आयुर्वेद के आधार पर हिन्दी-साहित्य मे भी ऐसे ग्रंथ लिखे गये हैं जिनमे संतान की उत्तमता पर जोर दिया गया है और उसके साधन भी बताये गये हैं।

यह शास्त्रीय दृष्टि है। तथापि साधारण लोक-व्यवहार में भी उत्तम सन्तति की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। देखिए—

> जननी जणे तो भक्त जण के दाता के सूर।
> ना तरु रह जो बाँझ ही मती गँवावे नूर॥

× × × ×

> जनक बाम भलि बादि बियानी।
> राम विमुख सुत तें बड़ हानी॥

× × × ×

[७]

हिन्दी-साहित्य में वैवाहिक प्रथा की चर्चा भी विस्तार-पूर्वक है। चाहे हम नवयुग और नवीन सभ्यता से प्रभावित उपन्यास पढ़ें और चाहे प्राचीन प्रेम-गाथाओं से लेकर तुलसीदास की रामायण को देखें, यहाँ तक कि चन्द बरदाई के रासो पर भी यदि हम दृष्टि डालें तो हमें विदित होता है कि विवाह-पद्धति का आदर्श पूर्ण स्वरूप है, जहाँ स्वयंवर की प्रथा से लेकर गन्धर्व-विवाह तक आदर्श हैं। प्रत्येक अवस्था में स्त्री-पुरुष के पूर्व प्रेम का अङ्कुर उत्पन्न होता है और यहाँ कवियों तथा इस प्रकार के उपन्यासकारों ने स्त्री-पुरुष के सम्मिलन का आदर्श रूपक

सभी साधनों के उल्लेख द्वारा आश्चर्य व अतिशयोक्ति का सहारा लिया है, परन्तु इसके अन्तर्गत सिद्धान्त वही बना रहता है।

वर-वधू के चुनाव मे इतनी स्वतन्त्रता देकर कौटुम्बिक व्यवस्था मे स्त्री-पुरुप के सम्बन्ध मे अनेक मत हमारे साहित्य मे प्रकट किये गये हैं। यद्यपि अभी तक पिता पुत्र और भाई-भाई के कर्तव्यों के विपयो मे विवाद नहीं उपस्थित हुआ है, एक ओर लक्ष्मण-भरत तथा दूसरी ओर विभीपण-रावण जैसे भाई यद्यपि कर्तव्य के दो चित्र उपस्थित करते हैं और यद्यपि कर्तव्य की ओट मे भरत कैकेयी की भर्त्सना कर सकते हैं, साथ ही हमारे कवि—

'अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन'

के रूप मे पुत्र के विचार-पूर्वक कर्तव्य-पालन का आदेश दे देते हैं, फिर भी इन सबके सम्बन्ध मे विशेप अधिकार-परिवर्तन हुआ नहीं पाया जाता। सारा झगडा है—दम्पति-जीवन की व्यवस्था पर। चाहे हम रामायण मे चित्रित सीता, मदोदरी और सुलोचना की कथा पढें और चाहे ऐतिहासिक रमणियो के सतीत्व और जौहर पर दृष्टि डालें, अथवा आज भी परम्परागत हिन्दू-गृहस्थी की व्यवस्था देखें, हमे सर्वत्र यही बात देख पडती है—

एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पतिपद प्रेमा॥

किन्तु अब इसका दूसरा पहलू भी हमारे सामने है। वर्तमान साहित्य में अङ्कित स्त्री-चरित्रों में हम स्त्रियों में आत्म-

समर्पण के भाव बहुधा नहीं पाते हैं, उनमें समता और समानाधिकार की भावना व्याप्त हो रही है। वे भी अपने विचार रखती हैं और उन्हें भी अपने इष्ट-मित्रों से मिलने और पत्र-व्यवहार करने का पूर्ण अधिकार है। पति महाशय को अपनी स्त्री के नाम आये हुए पत्रों को चुपचाप पढ़ने की कुत्सित उत्कण्ठा नहीं होनी चाहिए और न उन्हें चुपचुप जाकर अपनी सहयोगिनी के पत्रों को पढ़ने की धृष्टता दिखानी चाहिए। स्त्रियों के आन्दोलन की यह एक झलक मात्र है। इसकी भलाई-बुराई की आलोचना हमारा ध्येय नहीं है। हमें तो यह समझ लेना चाहिए कि विवाह के रूप में दम्पति-जीवन का एक आदर्श सीता के रूप में हम पाते हैं और दूसरा आजकल के उपन्यासों की स्वतन्त्रता और समता के रूप में भी।

[८]

राष्ट्र के संगठन काल में—विशेषतः पौराणिक वर्णनों के साहित्य में—शिक्षा का भाग बहुत अधिक है। प्राचीनकाल से हमारे समाज में ब्रह्मचर्याश्रम और गुरु-गृह-निवास के रूप में शिक्षा का क्षेत्र निश्चित कर रक्खा गया है। यह शिक्षा मन और बुद्धि के विकास के साथ शरीर और शक्ति का भी विकास करती है। इस शिक्षा-व्यवस्था में शास्त्रों का पठन-पाठन भी है और आखेट, धनुर्विद्या आदि की शिक्षा भी। [illegible] ने इसके [illegible] रूप को निराली ही बनाया है, किन्तु [illegible] हुए भी शिक्षा-

संस्थाओं को हिन्दी-साहित्य ने भुलाया नहीं है। 'सुदामाचरित' में कृष्ण-सुदामा की मैत्री गुरु के यहाँ हुई थी। कृष्ण थे राजपुत्र और सुदामा थे दरिद्र ब्राह्मण-सन्तान। किन्तु गुरुकुल की व्यवस्था में राव-रंक का भेद नहीं रहता। वहाँ किसी के साथ रिआयत नहीं की जाती। जिस शिक्षा को पाकर राजपुत्र कृष्ण और दरिद्र सुदामा में ऐसा स्नेह हो जाय कि सुदामा के मिलने पर कृष्ण उनकी दीनावस्था पर रोने लगें और अपना सर्वस्व भेंटकर दें, उस शिक्षा की सर्वोत्कृष्टता पर कौन लाञ्छन लगा सकता है? तुलसी के राम भी तो उसी गुरुकुल का आदर्श प्रस्तुत करते हैं—

गुरुगृह गये पढन रघुराई। अल्प काल विद्या सब आई॥

शरीर-सामर्थ्य को बढाने का भी अभ्यास किया जाता है—

बधु सखा सँग लेहि बुलाई। वन मृगया नित खेलहिं जाई॥

जरा राम के शिक्षणकालीन जीवन पर भी दृष्टि डालिए—

अनुज सखा सँग भोजन करहीं।
मातु पिता अग्याँ अनुसरहीं॥
जिहि विधि सुखी होहि पुरलोगा।
करहिं कृपानिधि सोइ सजोगा॥
वेद-पुरान सुनहि मन लाई।
आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥

प्रातकाल उठिकै रघुनाथा।
मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

इत्यादि

बच्चों को कुटुम्ब में व्यावहारिक शिक्षा भी मिलती है और माता पिता उनके खेल-कूद में पूरी दिलचस्पी लेते हैं। सूरदास के बालकृष्ण इन खेलों में स्वयं भाग लेते हैं। माता-पिता उनके खेलों पर दृष्टि रखकर उन पर उचित अंकुश रखते हैं। गृह में स्वर्ग-सुख का साम्राज्य देख पड़ता है। बच्चों की [illegible] पर माता पिता उमंगों में तैरने लगते हैं, भविष्य की आशाएँ उनका चित्त प्रसन्न कर देती हैं।

किन्तु इधर दूसरा साहित्य भी है। इसमें वर्तमान शिक्षा का नग्न रूप चित्रित है। ब्रह्मचर्याश्रम का विनाश और उससे उत्पन्न तेजहीन श्रीहीन नवयुवकों का दुर्बल स्वास्थ्य, शिक्षा प्राप्ति के आरम्भ से चलती हुई उसका का शिक्षा-समाप्ति के साथ ही [illegible], दुराचार और अनाचार के भयंकर परिणाम, और [illegible] और पतन की भयंकरता, बरबादी और भूख, असामयिक मृत्यु और आत्महत्या आदि सभी बातें वर्तमान हिन्दी-साहित्य में पाई जाती हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारी शिक्षा-व्यवस्था का विनाश हो गया है, उसमें असन्तोष भी आ गया है और इसी कारण हमारा [illegible] जीवन [illegible] दुखमय बन गया है। समाजवाद के सिद्धान्तों के [illegible] काल-

संस्थाओं को हिन्दी-साहित्य ने भुलाया नहीं है। 'सुदामाचरित' मे कृष्ण-सुदामा की मैत्री गुरु के यहाँ हुई थी। कृष्ण थे राजपुत्र और सुदामा थे दरिद्र ब्राह्मण-सन्तान। किन्तु गुरुकुल की व्यवस्था मे राव-रक का भेद नहीं रहता। वहाँ किसी के साथ रिआयत नहीं की जाती। जिस शिक्षा को पाकर राजपुत्र कृष्ण और दरिद्र सुदामा में ऐसा स्नेह हो जाय कि सुदामा के मिलने पर कृष्ण उनकी दीनावस्था पर रोने लगें और अपना सर्वस्व भेटकर दे, उस शिक्षा की सर्वोत्कृष्टता पर कौन लाञ्छन लगा सकता है? तुलसी के राम भी तो उसी गुरुकुल का आदर्श प्रस्तुत करते हैं—

गुरुगृह गये पढन रघुराई। अल्प काल विद्या सब आई॥

शरीर-सामर्थ्य को वढाने का भी अभ्यास किया जाता है—
बधु सखा सँग लेहि बुलाई। बन मृगया नित खेलहि जाई॥
जरा राम के शिक्षणकालीन जीवन पर भी दृष्टि डालिए—

अनुज सखा सँग भोजन करहीं।
मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥
जिहि बिधि सुखी होहि पुरलोगा।
करहि कृपानिधि सोइ सजोगा॥
वेद-पुरान सुनहि मन लाई।
आपु कहहि अनुजन्ह समुझाई॥

प्रातकाल उठिकै रघुनाथा ।
मातु पिता गुरु नावहि माथा ॥

इत्यादि

बच्चों को कुटुम्ब में व्यावहारिक शिक्षा भी मिलती है और माता-पिता उनके खेल-कूद में पूरी दिलचस्पी लेते हैं। सूरदास के बालकृष्ण इन खेलों में खूब भाग लेते हैं। माता-पिता उनके खेलों पर दृष्टि रखकर उन पर उचित अंकुश रखते हैं। गृह में स्वर्ग-सुख का साम्राज्य देख पड़ता है। बच्चों को देख-देख कर माता-पिता उमंगों में तैरने लगते हैं, भविष्य की आशाएँ उनका चित्त प्रसन्न कर देती हैं।

किन्तु इधर दूसरा साहित्य भी है। इसमें वर्तमान शिक्षा का नग्न रूप चित्रित है। ब्रह्मचर्याश्रम का विनाश और इससे उत्पन्न तज्जनित श्रीहीन नवयुवकों का दुर्बल स्वास्थ्य, शिक्षा-प्राप्ति के आरम्भ में बढ़ती हुई उमंग का शिक्षा-समाप्ति के साथ ही संहार, दुराचार और अनाचार के भयंकर परिणाम, घोर अपव्यय और ऋण की भयंकरता, बेकारी और भूख, असामयिक मृत्यु और आत्महत्या आदि सभी बातें वर्तमान हिन्दी-साहित्य में पाई जाती हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारी शिक्षा-संस्था का विनाश हो गया है, इसमें अपनापन नहीं रह गया है और इसी कारण हमारा कौटुम्बिक जीवन कृत्रिम तथा दुःखमय बन गया है। समाजशास्त्र के विद्वानों के लिए यह अध्य-

संस्थाओं को हिन्दी-साहित्य ने भुलाया नहीं है। 'सुदामाचरित' में कृष्ण-सुदामा की मैत्री गुरु के यहाँ हुई थी। कृष्ण थे राजपुत्र और सुदामा थे दरिद्र ब्राह्मण-सन्तान। किन्तु गुरुकुल की व्यवस्था में राव-रंक का भेद नहीं रहता। वहाँ किसी के साथ रिआयत नहीं की जाती। जिस शिक्षा को पाकर राजपुत्र कृष्ण और दरिद्र सुदामा में ऐसा स्नेह हो जाय कि सुदामा के मिलने पर कृष्ण उनकी दीनावस्था पर रोने लगें और अपना सर्वस्व भेंटकर दे, उस शिक्षा की सर्वोत्कृष्टता पर कौन लाञ्छन लगा सकता है? तुलसी के राम भी तो उसी गुरुकुल का आदर्श प्रस्तुत करते हैं—

गुरुगृह गये पढन रघुराई। अल्प काल विद्या सब आई॥

शरीर-सामर्थ्य को बढाने का भी अभ्यास किया जाता है—

बधु सखा सँग लेहि बुलाई। बन मृगया नित खेलहि जाई॥

जरा राम के शिक्षणकालीन जीवन पर भी दृष्टि डालिए—

अनुज सखा सँग भोजन करहीं।
मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥
जिहि विधि सुखी होहि पुरलोगा।
करहि कृपानिधि सोइ सजोगा॥
वेद-पुरान सुनहि मन लाई।
आपु कहहि अनुजन्ह समुझाई॥

प्रातकाल उठिकै रघुनाथा।
मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

इत्यादि

बच्चों को कुटुम्ब में व्यावहारिक शिक्षा भी मिलती है और माता पिता उनके खेल-कूद में पूरी दिलचस्पी लेते हैं। सूरदास के बालकृष्ण इन खेलों में बड़ा भाग लेते हैं। माता पिता उनके खेलों पर दृष्टि रखकर उन पर उचित अंकुश रखते हैं। गृह में स्वर्ग-सुख का साम्राज्य देख पड़ता है। बच्चों को देख-देख कर माता पिता उमंगों में तैरने लगते हैं, भविष्य की आशाएँ उनका चित्त प्रसन्न कर देती हैं।

किन्तु इधर दूसरा साहित्य भी है। इसमें वर्तमान शिक्षा का नग्न रूप चित्रित है। ब्रह्मचर्याश्रम का विनाश और उससे उत्पन्न तेजहीन शिथिल नवयुवकों का दुर्बल स्वास्थ्य, शिक्षा-प्राप्ति के आरम्भ में पड़ती हुई [illegible] का [illegible] शिक्षा-समाप्ति के बाद ही विवाह, गृहस्थाश्रम और [illegible] के भयंकर परिणाम, [illegible] और मृत्यु की भयंकरता, [illegible] और [illegible] अकाल मृत्यु और आत्महत्या आदि सभी बातें वर्तमान हिन्दी-साहित्य में पाई जाती हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारी शिक्षा प्रणाली का दिवाला हो गया है। हमारे [illegible] नहीं रह गया है और इसी कारण हमारा [illegible] [illegible] [illegible] हो गया है। समाजशास्त्र के विद्वानों के [illegible] [illegible] [illegible]-

यन का विषय है। कौटुम्बिक व्यवस्था सम्बन्धी और अनेक बाते विस्तारभय के कारण यहाँ नहीं लिखी जा सकती।

[९]

अब आजीविका का प्रश्न आता है और उसी के साथ समाज मे साम्पत्तिक व्यवस्था की समस्या भी उठती है। इस प्रश्न के उत्तरार्द्ध का बहुत कुछ सम्बन्ध राज्य-व्यवस्था से है। साधारण वर्ण-व्यवस्था की दृष्टि से तो—

> बरनाश्रम निजनिज धरम, निरत वेद पथ लोग।
> चलहि सदा पावहि सुख नहि भय शोक न रोग॥

वस्तुत वर्णाश्रम धर्म मे श्रमविभाग (Division of labour) के सभी चिन्ह देख पडते हैं। आर्थिक इतिहास की दृष्टि से देखते हुए हमें इस वर्णव्यवस्था में श्रम की योग्यता (Efficiency of labour) बढती ही देख पडती है। किन्तु चार वर्णों मे इतिश्री नहीं हो जाती और उसके भीतर सैकडो उपजातियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। सूदन कवि का 'दिल्ली की लूट' का वर्णन एक दृश्य उपस्थित कर देता है, जिसमे अनेक जातियो और अगणित व्यवसायियो की अच्छी खासी झलक मिल जाती है।

श्रम की उपयोगिता पर हमारे साहित्य मे बहुत कुछ लिखा गया है। अकर्मण्यता समाज के लिए अहितकर है। हमारे

चिरकालीन आदर्श राम और कृष्ण के जीवन निरन्तर उद्योग का उदाहरण उपस्थित करते हैं। उनका जीवन कठिनाइयों के ऊपर विजय-प्राप्ति का जीवन है। आदिकालीन हिन्दी-साहित्य ही में हमें युद्धमय जीवन का आदर्श मिलता है। हमारे भूषण शिवाजी को चुप नहीं बैठने देते। जिस समाज का मुखिया या राज्य का अधिपति सतर्क हो, उद्योगी और कर्तव्यशील हो, उस समाज में अकर्मण्यता और आलस्य की दाल नहीं गलती। यदि समाज में राजनीतिक सुव्यवस्था हो, तो उसमें दरिद्रता को स्थान नहीं मिलता। किन्तु जब राज्य में अधर्म की प्रवृत्ति बढ़ती है तो सम्पूर्ण आर्थिक परिपूर्णता नष्ट हो जाती है। धर्म अपने कर्तव्य-पालन में है और अधर्म उसकी अवहेलना है। जिस समय दिल्ली की राज-व्यवस्था बिगड़ती है तो क्या होता है, सुनिए—

[illegible] पै अधर्मतु अनीति अति सब [illegible] कलि।
[illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] के बहु [illegible]॥

× × × ×

[illegible] [illegible] गति [illegible] [illegible] लिये [illegible]।
अति अधर्म [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]॥

× × × ×

[१८]

हिन्दी का पुराना साहित्य सुव्यवस्थित समाज का दर्पण

रहा है। राजा को देवता का अंश बताया गया है और प्रजा को राजा का अनुगामी होने का आदेश दिया गया है। उधर राजा भी प्रजा-हित की चिन्तना में निमग्न रहता है और वह राज्यशासन में प्रजा को साथ लेकर ही आगे बढ़ता है। राम-राज्य का आदर्श आज भी वैसा ही सुन्दर है जैसा वस्तुत वह उस समय था। जब हम पढ़ते हैं—

रामराज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका।
बयर न कर काहू सन कोई। रामप्रताप **विषमता खोई** ॥

× × × ×

सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुतिरीती ॥
चारिहु चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा **सपनेहुँ अघ नाहीं** ॥
अलप मृत्यु नहिं कवनिउँ पीरा। सब सुदर **सब बिरुज सरीरा** ॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखीन दीना। **नहिं कोउ अबुध** न लच्छन हीना॥
सब निर्दंभ धर्मरत धुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥

× × × ×

रामराज कर **सुख सम्पदा**। बरनि न सकै फनीस सारदा ॥
एक-नारि-व्रत-रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी ॥

× × × ×

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पचानन ॥
सस सम्पन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृत जुग कै करनी ॥

तब इस राज्य-व्यवस्था की अभिलाषा कौन नहीं करना चाहता। हमारे राज्य का आदर्श भी तो यही है। किन्तु जब वर्तमान कवि की भारती यह कहती है—

नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक-टूक हो जाएँ।
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ।
शान्ति-दण्ड टूटे उस महा रुद्र का सिंहासन थर्राए।
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास विश्व के प्रांगण में घहराए।

नाश! नाश!! हा महानाश!!! की प्रलयंकरी आँख खुल जाए।
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए॥

—नवीन

तब हमें एक अनोखेपन का बोध होता है तब हमें समझ पड़ता है कि हमारी राज्य-व्यवस्था परिवर्तन चाहती है। इस प्रकार एक गान द्वारा महानाश को निमन्त्रण देकर शान्ति-सुख या शान्ति की कामना की गई है। हमारे साहित्य में निर्भयता की ऐसी [illegible] होती है। यह हमें [illegible] है। क्यों? इसलिए कि हमारा देश [illegible] वीर है, [illegible] है—

कंत नहि पकरहु मेरो हाथ।
[illegible]
[illegible]

दीन बन्यौ इतसों उत डोलत टकरावत निज माथ।
दिन दिन विपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ ॥ ३०

—हरिश्चन्द्र

इस परिवर्तन की साक्षी हमारा साहित्य पुकार-पुकारकर दे रहा है। पृथ्वीराज रासौ में चंद की लेखनी ने हमारे अस्त होते हुए सूर्य का चित्र अंकित किया है। उसी में जयचंद जैसे उलूकों की काली करतूतों का भी दृश्य हमें देखने को मिलता है। हिन्दी-साहित्य का चारण काव्य ही हमें अपने गौरव की कहानी सुना रहा है।

[११]

हमारे साहित्य में राज्यव्यवस्था के सम्बन्ध में 'राजा' और 'प्रजा' इन्हीं दो शब्दों का विशेषत उल्लेख हुआ है। राज्य के 'नर नारि' 'पचों' के रूप में अवश्य प्रकट होते हैं, किन्तु वर्तमान साहित्य द्वारा प्रचारित राष्ट्रीयता की कल्पना उनमें कदाचित् नहीं देख पड़ती। हम आज जिस 'मातृभूमि' का दर्शन अपने साहित्य में करते हैं उसका वैसा ही अनुभव हम इसके पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं करते। और आश्चर्य तो यह है कि हमारे पृथ्वीराज, शिवाजी और राणाप्रताप ने मातृभूमि की रक्षा ही में प्राण दिये हैं। हम वीरपूजा का आदर्श तो अपने साहित्य में पाते हैं, पर जिसके कारण इन वीरों ने प्राण दिये, उस मातृभूमि के प्रति जनसाधारण

में पूजा और गौरव का भाव नहीं पाते। जिन तुलसी और सूर ने राम कृष्ण के गुणगान द्वारा हिन्दू जाति में जीवन बनाये रक्खा, उनमें क्या इस मातृभूमि का प्रेम न था? था क्यों नहीं, किन्तु उनका भारत अयोध्या और वृन्दावन ही में था। आज हम अपने को भारतवासी कहकर क्या दिखाना चाहते हैं? यही न कि हम एक ही राष्ट्र के पुत्र हैं—हम सब एक हैं? तब क्या तुलसी की अयोध्या और सूर के वृन्दावन से यही भाव नहीं पैदा होते? जरा ध्यान देकर देखने की आवश्यकता है। भारतवर्ष में हिन्दू-साम्राज्य का नाश हो चुका था। भारतीय प्रजा विभिन्न माण्डलीक राजाओं के बन्धन में पड़ गई थी। ऐसी दशा में यदि पराधीनता के पाश से छुट कर जनसाधारण में एकता स्थापित हो सकती थी तो वह अयोध्या और वृन्दावन ही से। राजसत्ता छिन्न भिन्न हो जाने पर भी धार्मिक सत्ता की स्वतन्त्रता नहीं नष्ट हुई थी। वह सत्ता ही बिखरे हुए हिन्दू-समाज को एकता के बन्धन में बाँध सकती थी। इस धार्मिक स्वराज्य के केन्द्र थे। ब्रजमण्डल और अयोध्या में ही थे। वस्तुतः, यह ठीक है कि हमारे इस साहित्य में मातृभूमि की कल्पना आधुनिक रूप में नहीं की जाती थी, क्योंकि 'वृन्दावन धाम में ही [illegible] होने लगा था। हमें ज्ञात है कि सूर और तुलसी के परवर्ती कवियों ने भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पहले तक मातृभूमि के

वन्दना की ओर ध्यान न दिया और वृन्दावन ही की चरण-रज में पडे लोटते रहे। जहाँ रहकर और जिस भूमि की मर्यादा मे हम अपने हिन्दूत्व और उसके साथ अपने गौरव की रक्षा कर सके, वही स्थान हमारे लिए पूज्य है—वन्दनीय है। देखिए, अवधपुरी के लिए रामचद्र के मुख से तुलसीदासजी ने कैसे उद्गार प्रकट कराए हैं—

जद्यपि सब वैकुंठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसग जानै कोउ कोऊ॥
जनमभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि वह सरजू पावनि॥

× × × ×

उधर कृष्ण द्वारका मे वैठकर भी यही कहते हैं—

ऊधो! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।

आज जिस प्रकार 'भारतभूमि' की अर्चना मे हम मुक्ति की कामना करते हैं, ठीक उसी प्रकार हमारे तत्कालीन आदर्श के अनुसार यह था कि—

मुक्ति कहै गोपाल सौं, मेरी मुक्ति बताय।
ब्रज-रज चढि मस्तक लगै, मुक्ति मुक्त ह्वै जाय॥

जितना अधिक पूज्य भाव आज मातृभूमि के लिए प्रकट किया जाता है, वृन्दावन के नाम में भी हिन्दू-समाज की वही

साहित्य का निर्माण करनेवाले मस्तिष्क इतने थोथे और गन्दे हो जाते हैं कि उनमें 'स्व'-भावना का बीज तक नहीं रहता। रचनात्मक साहित्य यथा उपन्यास आदि ग्रन्थों में इस प्रवृत्ति का पता तुरन्त लग जाता है। इतिहासकार घटनाओं ही के आधार पर अपनी बातें लिखता है, परन्तु काव्य और उपन्यास तो सर्वथा मस्तिष्क की उपज है। घटनाएँ समाज ही से ली जाती हैं, किन्तु विचारों के पक्ष उन्हीं के होते हैं। अतएव इस प्रकार के साहित्य की प्रगति को समझने और समझकर उसे पथ भ्रष्ट होने से बचाने के लिए तत्पर होना चाहिए।

जब साहित्य का इस दृष्टि से अध्ययन किया जाता है तब हमें उसका एक नया ही स्वरूप देख पड़ता है। अपना स्वरूप समझ लेने और अपनी शक्ति की दृढ़ता ज्ञात होने पर ही हम दूसरों के सम्मुख जा सकते हैं। जैसे इस लेख में साहित्य से समाज के इतिहास के भिन्न पहलुओं का दिग्दर्शन कराया है, उससे यह भी स्पष्ट हो सकता है कि हमारी साहित्यिक प्रगति किसी अवस्था में पीछे नहीं रही है। बल्कि जिस युग में आर्य और मुस्लिम संस्कृति का संघर्ष हो रहा था, उस समय धार्मिक स्वतन्त्रता का प्रचार जनसाधारण की हिन्दी-साहित्य द्वारा ही हुआ था। हिन्दी साहित्य ने सामाजिक संगठन और आदर्शों की रक्षा में बहुत अधिक भाग लिया है। [illegible] है। [illegible]

है, उसमें भक्ति-काव्य और त्याग वैराग्य-सम्बन्धी साहित्य की अभिवृद्धि होती है। राज्य-सत्ता के नाश के साथ पराधीनता के रूप मे साहित्य के इस स्वरूप का कारण भी वह खोज सकता है। इसके बाद शृगार-साहित्य के मैदान में आकर दोनो धाराओं का सगम हो जाता है, भक्ति और शृगार तो गगा-यमुना की भाँति लहराते रहते हैं, किन्तु सन्तों का साहित्य सरस्वती की भाँति लुप्त हो जाता है। फिर, इस क्षेत्र से गद्य के रूप मे पुन साहित्य दो मार्गों से, किन्तु एक ही इष्ट की ओर, बढता है और सम्भव है कि स्वदेश-भक्ति और स्वाधीनता के गायन के पश्चात् वह हर हर करता हुआ विश्व-सगीत के अनन्त महासागर मे मिल जाय। साहित्य के इस रूप मे हम जीवन के चिन्ह पाते हैं।

साहित्य द्वारा समाज के इतिहास दर्शन में एक बात और देखी जानी चाहिए। और वह है—जातीय सस्कृति किम्वा सभ्यता पर प्रभाव। हमारे ग्रथो मे जिन विचारों का सग्रह हो रहा है, वे कैसे हैं, हमारे सामाजिक और राजनीतिक आदर्श हमें किस ओर ले जा रहे हैं, हम अपनी सस्कृति की रक्षा कर रहे हैं या उसे मिटा रहे हैं, इन्ही बातों की ओर ध्यान जाना चाहिए। जो जातियाँ अपनी सस्कृति से च्युत हो जाती हैं, जो पराधीनता के बन्धन में पडकर गुलाम बन जाती हैं, उनके साहित्य मे उनके विनाश की कथा अंकित रहती है। और यह तभी होता है जब

साहित्य का निर्माण करनेवाले मस्तिष्क इतने थोथे और गंदे हो जाते हैं कि उनमें 'स्व'-भावना का बीज तक नहीं रहता। रचनात्मक साहित्य यथा उपन्यास आदि ग्रंथों में इस प्रवृत्ति का पता तुरन्त लग जाता है। इतिहासकार घटनाओं ही के आधार पर अपनी बातें लिखता है, परन्तु काव्य और उपन्यास तो सर्वथा मस्तिष्क की उपज हैं। घटनाएँ समाज ही में हो जाती हैं, किन्तु विचारों के यन्त्र उन्हीं के होते हैं। अतएव इस प्रकार के साहित्य की प्रगति को समझने और समझकर उसे पथभ्रष्ट होने से बचाने के लिए अग्रसर होना चाहिए।

जब साहित्य का इस दृष्टि से अध्ययन किया जाता है तब हमें उसका एक नया ही स्वरूप देख पड़ता है। अपना स्वरूप समझ लेने और अपनी शक्ति की दृढ़ता जान लेने पर ही हम दूसरों के सम्मुख जा सकते हैं। मैंने इस लेख में संक्षेप में समाज के इतिहास के जिन पहलुओं का दिग्दर्शन कराया है, उससे यह भी प्रकट हो सकता है कि हमारी साहित्यिक प्रगति किसी अवस्था में पीछे नहीं रही है। वरन् जिस युग में स्वार्थ और कुत्सित सम्पत्ति का संघर्ष हो रहा था उस समय धार्मिक स्वच्छन्दता का दर्शन जनसाधारण को हिन्दी-साहित्य द्वारा ही हुआ था। हिन्दी-साहित्य ने भारतीय सभ्यता और आदर्श की रक्षा में बहुत अधिक भाग लिया है। स्वतन्त्रता का पाठ भी हम यहीं पढ़ते हैं। [illegible] युद्ध लोग कुआसन से पढ़कर अपनी [illegible]

लिए आज भी नायक-नायिकाओं के रूप में राधाकृष्ण के दर्शन करें, किन्तु जागृत भारत तो इसके लिए तैयार नहीं है। उसे तो इस समय महाभारत के कृष्ण की आवश्यकता है। आज किसी रूप-गर्विता रमणी के फेर में फकीर बनने का अवसर नहीं है, आज तो केसरिया बाना पहिनकर आत्म-समर्पण की आवश्यकता है।

तुलसी और सूर ने अपने समय में वही काम किया जो आज हमें करना चाहिए। देशभक्ति किसी जोश का नाम नहीं है—वह है अपनी सभ्यता, जाति और राष्ट्र को अमर बनाने में। क्या तुलसीदास की रामायण ने हिन्दी-साहित्य और उसके साथ हिन्दू जाति को गौरव प्रदान नहीं किया? क्या उनकी रामायण द्वारा भारतीय संस्कृति की रक्षा नहीं हुई? यदि हुई तो उन्हें देशभक्तों में शिरोमणि कहना चाहिए। देशभक्ति मस्तिष्क में होती है, शरीर में नहीं, वह प्रेम में रहती है, घृणा में नहीं, उसके द्वारा निर्माण होता है, विनाश नहीं।

देशभक्ति किम्वा राष्ट्रीयता के लिए राजनीतिज्ञ होने की आवश्यकता नहीं है। सभी राजनीतिज्ञ देशभक्त नहीं हुआ करते। बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर लार्ड रोनाल्ड्शे ने अपनी (The heart of Aryavart) नामक पुस्तक में लिखा है कि जो व्यक्ति राजनीतिज्ञ नहीं है, उसका देशभक्त होना कहीं अधिक महत्त्व का है। उदाहरण के लिए रवीन्द्र ही को लीजिए, वे कवि

हैं, किन्तु भारतवर्ष में वे राष्ट्रीय आदर्श के स्वरूप माने जाते हैं। सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान प्रोफेसर राधाकृष्णन ने रवीन्द्र के विषय में लिखा है —'In interpreting the philosophy and message of Sir Rabindra Nath Tagore we are interpreting the Indian ideal of Philosophy religion and art of which his work is the outcome and the expression. We do not know whether it is Rabindra Nath's own heart or the heart of India that is beating here. In his work India finds the lost word she was seeking.' आधुनिक साहित्य की तुलना में, जिस भाषा-साहित्य को रवीन्द्र की ज्ञान-रत्न-राशि का दान प्राप्त हुआ है, वह अन्य साहित्यों के लिए ईर्षा का कारण होना चाहिए।

[१३]

छोटी से छोटी रचना से लेकर बड़ी से बड़ी रचना तक सभी साहित्य में स्थान की दृष्टि से देखी जानी चाहिए। प्रत्येक रचना अपना महत्व रखती है। [illegible] निर्माण में [illegible] लिखो का [illegible] नहीं होता [illegible] है। परन्तु हम जो लिखते हैं, आज भी हमारे साहित्य के [illegible] प्रसिद्ध और होनहार दोनों ही प्रकार के [illegible] अवसर ही की प्रतीक्षा में हैं। [illegible] [illegible] और [illegible] का [illegible] है। [illegible]

कानों में जान पडता है, पीडा और अध पतन के हाहाकार की ध्वनि नहीं पहुँची है। एक प्रकार के कवि नायिकाओं की खोज मे लगे है, तो दूसरे अनन्त की खोज मे दौड़ पडे हैं। जो जाति अपनी विगत स्वाधीनता को नहीं खोज सकती, उसके सपूत वीणा के टूटे तार लेकर विश्व-रहस्य को खोजने जाते हैं। हमारे साहित्य की खिलती हुई प्रतिभा आँसुओं ही के रूप मे बही जा रही है। एक ओर विज्ञान उन्नति कर रहा है, दूसरी ओर साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध स्वातन्त्र्य एवम् साम्यवाद का सघर्ष हो रहा है, और इधर हमारे कवि—

'घने लहरे रेशम के बाल,
धरा है सिर मे मैंने देवि !
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृगार'

—पत

× × ×

मे नारी-रूप धरकर क्रीडा करना चाहते हैं। इन्हें यह नहीं सूझता कि हम कहाँ हैं और ससृति का कोलाहल हमें किस ओर बुला रहा है।

—रमाशकर शुक्ल

कबीर : सिद्धान्त और रहस्यवाद

धर्म की सम्यक् स्थापित करने के लिए महान आत्माएँ समय-समय पर जन्म लिया करती हैं। कबीर का जन्म भी इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप नहीं था। १५वीं शताब्दी की बात है, धर्मान्धता से ग्रस्त उपर्युक्त सम्प्रदायों हिन्दू और इनकी आचरण प्रवृत्ति का दुरुपयोग के कारण अपनी स्वाधीनता की भावना के विलीन करने पथ में चली चुकी थी। मुस्लिम शासकों के द्वारा भी बलात् धर्मान्तर हिन्दू जनता में करना [illegible] [illegible] सभी और धीरे के [illegible] और [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] के [illegible] के [illegible]

लिए विलीन हो गई। देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो गया। मंदिरों के स्थान पर मसजिदों की स्थापना की गई, देव-मूर्त्तियों और पूज्य पुरुषों का अपमान होने लगा। अपने नौनिहालों की निर्दयतापूर्ण मृत्यु, अपनी सम्पत्ति पर विदेशियों का अधिकार, धर्म पर कुठाराघात, शासकों की वेदनापूर्ण आज्ञाएँ—हिन्दू जाति ने उस समय क्या नहीं देखा!! वैराग्य की इस चरमसीमा पर पहुँचकर अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शरण लेने के अतिरिक्त सान्त्वना का और दूसरा मार्ग हो ही क्या सकता था? काल के प्रतिनिधि कवियों ने जनता के हृदय को सँभालने के लिए भक्ति का एक नया मार्ग निकाला। शासक और शासितों को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए और "राम-रहीम" को एक करने के अभिप्राय से उन्होंने दोनों के सामने ईश्वर के प्रेम-स्वरूप को रक्खा और भेदभाव हटाने का प्रयत्न किया। कबीर इस समय के प्रधान कवियों और समाज-सुधारकों में से थे। प्रश्न यह उठता है कि कबीर के कौन से सिद्धान्त थे, जिनके कारण उनका प्रभाव जनता पर इतना अधिक पड़ा। इसका उत्तर हम संक्षेप में देने का प्रयास करते हैं।

कबीर-सम्प्रदाय का सबसे बड़ा सिद्धान्त ईश्वर की एकात्मवादिता है। वही अखिल विश्व का निर्माणकर्ता, अनादि और अनन्त है। कबीर का ईश्वर सर्वधर्मगत है, वह

विश्व व्यापक है और लड्डू-हलवा खानेवाले ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। उसका कोई निर्दिष्ट रूप नहीं, अतएव पत्थर की मूर्त्ति बनाकर उसे भोग लगाना कबीर के विचार में केवल हास्यास्पद है। कबीर ने अपने 'ईश्वर' को 'राम', 'हरि', 'शार्ङ्गपाणि', 'यादवराय', 'गोपाल' 'साहब', 'राउर' 'खसम' आदि नामों से सम्बोधित किया है, परन्तु इन सब शब्दों में भी बहुत कुछ विभिन्नता है। इनमें से पहले पाँच नाम साम्प्रदायिक और शेष तात्त्विक दृष्टि से प्रयोग में लाये गये हैं। जनश्रुति है कि कबीर ने वैष्णवसम्प्रदाय के परमोद्धारक श्रीस्वामी रामानंद से दीक्षा ली थी। अतएव वैष्णवसम्प्रदाय के नाम 'राम', 'गोपाल', 'हरि' आदि का 'परम-तत्त्व' के स्मरण करने के लिए प्रयोग करना उनके लिए स्वाभाविक था। परन्तु उन्होंने स्पष्टतया प्रकट कर दिया है कि उनके 'राम', स्वामी रामानन्द के दाशरथी राम से सर्वथा भिन्न हैं। कबीर का 'राम' से अभिप्राय निर्गुण ब्रह्म से है। उन्होंने कहा भी है—

(१) "निर्गुण राम, निर्गुण राम जपहु रे भाई।'

(२) 'दशरथ सुत तिहुँलोक बखाना,
रामनाम का मरम है आना॥'

(३) "[illegible] राम को [illegible] कहिये [illegible] कोउ न [illegible]
[illegible]।"

(४) "हृदया बसे तेहि राम न जाना ।
पूरब दिसा हम गति होई ।
है समीप सधि बूझै कोई ॥
एरे मूरख नादाना, तैने हरदम रामहि न जाना ॥"

ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रकट है कि कबीर के 'राम' में कोई विशेषता है। उनका 'राम' हृदय मे बसनेवाला और मृत्यु के पाश से परे है। वह लोक-विशेष निवासी नहीं है। कबीर की यह भावना हिंदुओं की ब्रह्मभावना से मिलती है, परन्तु एक स्थान पर कबीर की भावना इससे भी अधिक ऊँची है। निर्गुण भावना मे भी उन्हे स्थूलभावना का आभास होता है और इसी लिए राम को निर्गुण और सगुण दोनो से उपर मानकर वह कहते हैं—

अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निंदा ।
ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मदा ॥

इससे प्रतीत होता है कि कबीर का 'नूर' रहस्यवादियों के 'अनन्त प्रकाश' का दूसरा नाम है। कबीर भी स्वय रहस्यवादी था, इसका विचार हम आगे करेंगे। यहाँ पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इन पक्तियो मे कबीर के ऊपर मुसलमानी मत का प्रभाव स्पष्टतया प्रकट होता है।

कबीर मूर्त्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। उनके विचार मे

निराकार परमब्रह्म की सत्ता निर्विवाद है, अत मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना मूर्खता है। ऐसी पूजा करनेवाले उनकी दृष्टि मे ढोंगी हैं, बने हुए हैं और ८४ लाख योनियों मे भटकते हुए नरक की सेवा करनेवाले हैं। इसी लिए वड़े व्यंगपूर्ण शब्दों में वह कहते हैं—

"पाहन पूजे हरि मिलै तो मै पूजूँ पहार"

कबीर का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति का साधन एक मात्र भक्ति है—

"कहै कबीर जस गाहौ भगति मुकति गति पाई रे।"

मनसा, वाचा कर्मणा भक्ति करना ही उस तक पहुँचने का सुगम मार्ग है। वेदों और उपनिषदों के पढ़ने से ही कोई पंडित नहीं हो जाता। कबीर के पंडित वही हैं जिसने प्रेम के ढाई अक्षर का पाठ पढ़ा हो। ज्ञानी अभिमान से [illegible] के कारण माया के चक्कर में भटकता फिरता है, परन्तु भक्त निरभिमान होकर शीघ्र परमात्मा तक पहुँच जाता है। कबीर का भक्तिमार्ग सगुणमार्ग से भिन्न है। सगुण मार्ग राम अथवा कृष्ण की उपासना का उपदेश देता है और कबीर का भक्तिमार्ग निर्गुण ब्रह्म द्वारा ही इस तक पहुँचने का उपदेश करता है। [illegible] और [illegible] कबीर [illegible] अनुभव और [illegible]

की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले नहीं थे। वह सदाचार और ब्रह्मज्ञान के रूखे-सूखे उपदेशो द्वारा भक्ति-मार्ग की व्यवस्था करना चाहते थे। इसी कारण कबीर मे वह अनेक-रूपता (imagery) एव मधुरता नहीं है जो जायसी, सूर और तुलसी में प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। जिस प्रकार किसान गर्मियो मे वर्षा का नहीं, वरन् ताप का भूखा होता है, उसी तरह कबीर 'चरम आनन्द' प्राप्त करने के लिए कष्ट-साधना के भूखे थे। सूर और तुलसी की तरह उनका लक्ष्य एव शस्त्र मानव-हृदय नहीं है। उनमें वह भावुकता और सहृदयता नहीं है जो परोक्ष सत्ता की ओर सकेत करनेवाले रमणीय दृश्यों का चित्र अकित कर सके, परन्तु कबीर में भगवान की भावना का 'माधुर्य्य भाव' अवश्य विद्यमान है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा भी है—

"हरि मोर पीउ मैं राम की बहुरिया।"

'राम की बहुरिया' कभी तो प्रिय से मिलने की उत्कंठा और मार्ग की कठिनता प्रकट करती है और कभी विरहवेदना का अनुभव करती है।

कबीर की शिक्षा है आत्म ज्ञान प्राप्त करना, जो आत्मा के आनन्द के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार आत्मा अनादि है, उसी प्रकार माया भी अनादि है। यही माया सत्वगुण की अप्रधानता के कारण अविद्या-रूप को ग्रहण कर लेती है। इसी कारण

जीवात्मा चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया करती है। अज्ञान-वश जीवात्मा अपने (चेतन के) धर्म आनन्द आदि को जड़ (विषयों) का धर्म मान लेता है, अर्थात् यह सुख मुझे विषयों से मिला है, ऐसा जान लेता है। इसीलिए आनन्दस्वरूप होते हुए भी वह अपार दुःख-सागर में डूबा रहता है। इस बंधन से मुक्त करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है, सोपाधिक और निरुपाधिक। शुद्ध चेतन निरुपाधिक है, इसलिए अपने स्वरूप को पहचानने के लिए निरुपाधिक ज्ञान आवश्यक है। आत्म-साक्षात्कार के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। "ऋते ज्ञानान्नमुक्ति"।

कबीर कहते हैं कि यह नाम रूपात्मक जगत जो चर्म-चक्षुओं को दिखाई देता है, घट का पर्दा है, जिसके बाहर भी ब्रह्म व्याप्त है और भीतर भी। घट रूप का नाश होने पर जिस प्रकार बाहर और अन्दर का जल मिलकर एक हो जाता है उसी प्रकार माया का पर्दा बीच से हट जाने पर, अन्तर का ब्रह्म बाह्य ब्रह्म में समा जाता है—

> जल में कुंभ, कुंभ में जल है बाहरि भीतर पानी।
> फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तथ कथ्यो गियानी॥

प्रकार की अभिव्यक्ति पर भी कबीर ने बहुत जोर दिया है। उनका कहना है कि ब्रह्म पानी के बुदबुद की तरह [illegible] है। जिस प्रकार स्वभाव होते ही [illegible] हो जाते हैं, वहीं [illegible]

काल आने पर यह जीवन-लीला भी आँखों के देखते-देखते समाप्त हो जाती है। कबीर कहते हैं—

ऐसा यह ससार है जस सेमर का फूल।
दिन दस के व्योहार मे झूठे रग न भूल ॥
सेवर सुवना सेइया दुई ढेंढी की आस,
ढेंढी फूटि चटाक दे सुवना चला उदास ॥

माया में पडा हुआ मनुष्य अपनी ही वात सोचता है, इसलिए वह परमात्मा तक नहीं पहुँच पाता। माया ममता की धात्री है। इसीलिए ज्ञानी माया का त्याग आवश्यक बताते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद-मत्सर माया के पाँच पुत्र हैं, जो सदैव मनुष्य के अध पतन का कारण होते हैं। इसी से तत्त्वार्थियों को सावधान करने के लिए वह कहते हैं—

पच चोर गढ मझा, गढ लूटैं दिवस अरु सझा।
जो गढपति पुहकम होई, तौ लूटि सकै न कोई ॥

अतएव भर्त्सना देते हुए कवीर ने कहा है—

जागु पियारी अब क्या सोवे।
रैन गई दिन काहे को खोवे ॥

जिन जागा तिन मानिक पाया, तै वैरी सब सोय गँवाया।
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी, कबहुँ न पिय की सेज सँवारी।
तै बौरी बौरापन कीन्हा, भर जोबन पिय अपन न चीन्हा।

जागु देख पिय सेजन तेरे, तोहि छाडि उठि गये भरेरे।
कह कबीर सोई धुन जागे, सब्द-बान उर अन्तर लागे।

इस अज्ञान को हटाने के लिए कबीर ने आत्म-विचार का निर्देश किया है। यह आत्म विचार सद्गुरु के उपदेश के बिना नहीं हो सकता। अतः कबीर ने सद्गुरु के सम्बन्ध की गुरु पद में प्रशंसा की है। उनका मत है कि सद्गुरु के सम्पर्क में आने से ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं—

(१) "सन्तो भक्ति सतोगुरु आनी।"

(२) हम भी पाहन पूजते होते बन के रोझ।
सद्गुरु की कृपा भई सिर तें डार्या बोझ॥

यहाँ एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। कबीर के अनुसार गुरु का पद किसी ऐहिक पुरुष को नहीं मिल सकता। वह ईश्वर ही को गुरु मानते हैं। केवल हमारी सद्भावनायें हमारी आत्मा ज्योतित हो गुरु होकर हमारे ज्ञान का अनुभव करती हैं।

हरि बिनु भरम—बिगुर्चे गंदा।
[illegible] जहाँ अपनपौ खोजो, [illegible] ॥
[illegible] ॥
[illegible] ॥

ज्ञानी, गुनी, सूर, कवि, दाता, ई जो कहहि वड हमहीं।
जहँड से उपजे तहँड समाने, छूटि गयल सभ तबहीं॥
वायें दहिने तजो विकारां, निजु कै हरिपद गहिया।
कहँहि कबिर गूंगे गुर खाया, पूछे से का कहिया॥

कबीर गुरु और शिष्य के शारीरिक साक्षात्कार के पक्षपाती नहीं हैं। उनकी धारणा है कि मानसिक सम्बन्ध द्वारा भी शिष्यत्व का निर्वाह हो सकता है।

कबीर गुरु बसैं बनारसी, सिप समदर तीर।
विसरया नहीं वीसरै, जे गुण होई सरीर॥

सभव है, रामानद के साथ भी उनका यही मानस-गुरु सम्बन्ध रहा हो, क्योंकि कुछ लोगों के मतानुसार कबीर शेख तकी के शिष्य प्रमाणित होते हैं।

मनुष्य के विषय मे भी कबीर के विचार अत्यन्त उदार है। भिन्न-भिन्न धर्म-मतावलम्बी सब समान हैं। चाडाल और ब्राह्मण मे कर्म का भेद है। वर्ण विभाग समाज की कृति का फल है। ईश्वर ने किसी को गरीब-अमीर नहीं बनाया। पैदा होने के समय सब की दशा एक-सी होती है। उन्नति और अवनति केवल व्यक्तिगत बुद्धि एव प्रभा का परिणाम है।

कबीर कर्मकाड को आडम्बर समझते थे। पक्के हिंदू-मुसलमान की तरह माला जपने मे कबीर को तनिक भी विश्वास न था। ऐसे मनुष्यो को वह शिक्षा देते हैं—

"हे मनुष्यो, हाथ की माला को छोड़कर मन की माला फेरो"।

कबीर केवल सत्य के उपासक थे। उन्होंने किसी नामधारी बंधन में अपने को नहीं बाँधा। मुसलमानों के रोजा, नमाज, ताजियादारी और हिंदुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थ, व्रत आदि सभी की उन्होंने भरपेट निंदा की है। हिन्दुओं की जाति-पाँति, छुआछूत, खान-पान के व्यवहारों और मुसलमानों के चाचा की लड़की ब्याहने, मुसलमानी आदि कराने का उन्होंने घोर विरोध किया है। पितरों का जल से तर्पण करना हिन्दुओं में एक साधारण बात है, परन्तु कबीर का इस पर भी विश्वास न था। एक दिन जब वह नदी में स्नान कर रहे थे, उन्होंने कुछ हिन्दुओं को तर्पण करते देखा। उन्हें देखकर उन्होंने भी पश्चिम की ओर जल उछालना आरम्भ कर दिया। इन हिन्दुओं में से एक ने यह देखकर पूछा—गुसाईं! आप यह क्या कर रहे हैं?

कबीर ने उत्तर दिया—मैं अपने खेत को सींच रहा हूँ, जो यहाँ से दूर है।

इस पर सब लोग हँसने और कबीर को मूर्ख कहने लगे।

कबीर ने कहा—तुम मुझसे बढ़कर मूर्ख हो, क्योंकि तुम तो पितृलोकवासी पूर्वजों तक जल पहुँचाना चाहते हो [illegible]

* [illegible] पृ० [illegible]

कबीर कहते हैं—दाढी-मूँछ मुडाने से क्या होता है ? यदि मुडाना है तो मन को मुडाओ, अपनी वासनाओं के ऊपर राज्य करो। उसी के अदर शैतान अपना प्रभुत्व जमाये बैठा है।

माला तिलक लगाइकै, भक्ति न आई हाथ।
दाढी मूँछ मुडाइकै,-चलै दुनी कै साथ ॥

कबीर उन ज्ञानियो मे से नहीं थे, जो हाथ-पाँव समेटकर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बनकर रहते हैं। वह परिश्रम का रहस्य जानते थे और अपनी जीविका के लिए अपने ही हाथ का आसरा रखते थे। थोडे में ही सतोष करने का उन्होंने उपदेश दिया है। धन-धरती जोडना उनकी वृत्ति के विरुद्ध था। उन्होंने कहा भी है—

काहे कू भीत बनाऊ टाटी, का जाणू कहँ परिहै माटी।
काहे को मदिर महल चिनाऊ, मूवाँ पीछैं घडी एक रहन न पाऊ ॥
काहे को छाऊ ऊच उचेरा, साढे तीन हाथ घर मेरा।
कहै कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तैती भुई लीजै ॥

कबीर ने कथनी और करनी का भी खूब विवेचन किया है। वह कहते हैं—ससार मे कहनेवाले तो बहुत मिलते हैं, परन्तु उसको करनेवाला कोई बिरला ही मिलता है। कहना खाँड के समान मीठा लगता है और करना विष के समान कडुवा, परन्तु कर्म करनेवालों को विष भी अमृत हो जाता है।

कबीर के विषय में दूसरा प्रश्न उठता है—हिन्दी-साहित्य में कवि कबीर का स्थान कौन सा है। उत्तर में निवेदन है कि कबीर की कविता का सम्बन्ध रहस्यवाद से है। अतएव बिना यह समझे हुए कि रहस्यवाद क्या है, हम उसका निर्णय नहीं कर सकते। हम यह मानते हैं कि कबीर के काव्य में नीरसता का नाम है, उनकी भाषा अस्पष्ट है, उसमें दार्शनिक पदों का ही बाहुल्य है और वे पद भी अधिकतर पिंगलशास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं हैं, परन्तु कबीर में महान कवि के सब लक्षण विद्यमान हैं। उनमें प्रतिभा है, मौलिकता है, ओज है, गाम्भीर्य है। उनके काव्य में उनका हृदय प्रतिबिम्बित है, अपनी निजी भावना का जीता-जागता चित्र है, अपना निजी संदेश है। उनके काव्य में कला-पक्ष की पच्चीकारी का अभाव अवश्य है। यदि आध्यात्मिकता की भौतिकता से भेद हटाया जाय, तो कबीर का स्थान हिन्दी-साहित्य-जगत में वही है, जो सूर और तुलसी का है। और यदि रहस्यवादियों की दृष्टि से देखा जाय, तो यह निर्विवाद है कि कबीर का स्थान जायसी से भी अधिक ऊँचा है।

अब हम यह निर्णय का प्रयत्न करेंगे कि रहस्यवाद क्या है और कबीर का रहस्यवाद किस प्रकार का है।

इस संसार रूप का परिज्ञान [illegible] करती है, इसका अनुभव मनुष्य [illegible] बहुत समय से करता आ रहा है। इस अज्ञात शक्ति का मनुष्य से क्या सम्बन्ध है, इसे

का ज्ञान रहस्यवाद का अंतिम लक्ष्य है। अनंत के सम्पर्क में आने तथा उस "सत्ता" (Reality) को अपने इन नंगे छोटे-छोटे हाथों से पकड़ लेने की अभिलाषा उत्पन्न होना ही रहस्यवाद की सीढ़ी पर पैर रखना है। रूपहीन-चिंतन (Formless Speculation) द्वारा अपनी आत्मा की एकान्तता में एक दैविक शक्ति के आभास का अनुभव करना ही रहस्यवाद का रहस्य है। रहस्यवाद कोई मोल ली जानेवाली मोतियों की लड़ी नहीं है। यह वह पाषाण-क्षेत्र है, जहाँ थोड़ा सा खोदने पर ही भ्रमात्मक पत्थर निकलने लगते हैं और जहाँ सच्चे हीरे पाने के लिए खोदनेवाले को बड़े परिश्रम एवं धैर्य्य की आवश्यकता होती है। जीवन के पूर्णांक (Life in its wholeness) सम्पर्क में आने पर ही हम उसके भाव तथा तात्पर्य्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जीवन के आदि संगीत का अनुभव कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। यह तभी सम्भव है जब हम अपने भावों और विचारों को सभिन्न कर 'वास्तविकता' (Reality) के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेनेवाले मनुष्यों के अनुभवों का सहारा लें। ये कवि हैं, सिद्ध हैं, भविष्यद्वादी हैं। ये वे लोग हैं जो अपने दिव्य चक्षुओं से उस "अनंत-प्रकाश" का दर्शन कर चुके हैं। ये विकारहीन विचारों के प्रभु हैं, और अपनी अद्भुत, आत्मिक एवं मानसिक शक्तियों के पूर्ण विकासके कारण उस अंतर्ज्ञान के अधिपति हैं, जो भावात्मक वस्तुओं तक पहुँचने का एकमात्र साधन है।

रहस्यवादी का विकास कुछ इस प्रकार होता है —

मनुष्य किसी वस्तु की खोज में घूमता फिरता है, सहसा उसे एक तेजहीन ज्योति (Dazzling Vision) का आभास मिलता है। उसे प्रतीत होता है कि ज्ञान और बुद्धि दोनों उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तब, वह जीवन की वास्तविकताओं को भूल जाता है और मानसिक क्षेत्र की सूक्ष्म प्रवृत्तियाँ उसे अपनी ओर खींच ले जाती हैं। साधारण भाषा में कहना होगा कि वह 'खो' जाता है। उसकी आत्मा उस 'अनन्त ज्योति' से इतनी प्रकाशित हो जाती है कि उसको अपने पूर्वजन्म की [illegible] की स्मृति नहीं रहती। जिस समय ज्ञानी इस दशा को पहुँच जाता है, तब समझो वह पक्का रहस्यवादी हो जाता है। उस समय [illegible] और [illegible] के [illegible] का [illegible] मिलता है [illegible] कहीं उसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप ज्ञात [illegible] है और [illegible] के [illegible] [illegible] होता है। कबीर ने इसी [illegible] को [illegible] कहा है—

> [illegible]
> [illegible]

[illegible]

देना कौन नहीं देखता ! परन्तु कबीर जैसे रहस्यवादी ही उसमे ससार की अनित्यता का आभास पाकर कह सकते हैं—

> माली आवत देखि कें कलियाँ करें पुकारि ।
> खिली-खिली तो चुन लई अब काल्हि हमारी बारि ॥

कबीर ब्रह्म के जिज्ञासू हैं। जिज्ञासा का सम्बन्ध आत्म-ज्ञान से है। "जब जिज्ञासू ज्ञानी की कोटि पर पहुँचकर कवि होना चाहता है, तो स्वभावतया उसका ध्यान रहस्यवाद की ओर झुक पडता है। चिंतन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता-क्षेत्र मे आकर भावुकता और कल्पना का आधार पकडकर इस रहस्य-वाद का रूप पकड लेता है।" इसी समय उसकी दृष्टि मे सृष्टि की प्रत्येक वस्तु दूसरी से एक अखंड सम्बन्ध में जकडी हुई दिखाई पडती है। ऐसे समय कवि की भी सहृदयता अनन्य-हृदयता का रूप धारण कर लेती है और झरनों मे, निर्जन वन मे, मर्मर करते हुए कानन मे, पुष्पों के पराग की गंध मे, मुग्ध पवन के मृदुल झोंको मे, भक्त को केवल अपने ही प्रियतम की मधुर वाणी सुनाई देती है। वह खिले हुए फूलों में, रमणी के स्मित आनन मे, सुन्दर मेघमाला मे, निखरे हुए चंद्र-बिम्ब में, अपने प्रियतम के सौंदर्य्य का, गम्भीर मेघ-गर्जन मे, बिजली की कडक मे, वज्रपात मे, भूकप में उसकी रौद्र मूर्त्ति का, ससार के असामान्य वीरों मे शक्ति का और परोपकारियों, त्यागियो एव

माता के स्नेह-पूर्ण चुम्बन में उनकी शीलता, वत्सलता आदि का साक्षात्कार करना है।

रहस्यवादी विशेषतया चार प्रकार के होते हैं —

(१) भक्ति-उपासक (Devotional mystics) इनके विचार से संन्यासी होकर परमात्मा का भजन करना ही सफलता की कुंजी है। आत्मिक एवं शारीरिक श्रम, निश्चितता (definiteness), वीरतासूचक साहस, तीक्ष्ण बुद्धि, तीव्र त्याग यही इनके मौलिक लक्षण हैं।

(२) दार्शनिक (Philosophical mystics) ये संन्यासी होकर संसार परित्याग करने के नहीं, वरन् घर पर ही विरक्त जीवन व्यतीत करने के पक्षपाती हैं।

(३) प्रकृति-उपासक (Nature mystics) ये वृक्षों और पत्तों ही में परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। इनका मत है कि परमात्मा पहले प्रकृति ही में [illegible] का [illegible] करता है। अथवा यों कहिए कि ईश्वर-रूप प्रकृति-रूप से भिन्न नहीं है। इनकी सबसे पहली पूजा प्रकृति-पूजा ही है। यह प्रत्येक पदार्थ का स्वागत करती है, जो उसके सौन्दर्य और सूक्ष्मता का प्रकाश करे। यह दर्शन का पुष्प [illegible] सिद्धान्त ही है और न प्रत्यक्षवाद ही। यह तो [illegible] में अन्तर्निहित शक्ति का पुष्प है, अर्थात् [illegible] ईश्वर-

वाद तथा आस्तिकता है। हम केवल प्रकृति ही के द्वारा प्राकृतिक ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते है।

हम कबीर को इस तीसरी श्रेणी में रखने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। प्राकृतिक सौंदर्य्य हृदय मे उपासना का भाव जागृत कर देता है, वासनाएँ शात हो जाती है। कबीर इस भक्ति-भाव से प्रेरित अवश्य हुए थे, परन्तु चित्त की शान्ति ही वास्तविक सौंदर्य्य है, कबीर इससे अनभिज्ञ नहीं थे। यह शांति उन्हें फला और फूलो मे प्राप्त न हो सकी। हाँ, इन सब ने भक्ति-भावना की ओर कबीर का ध्यान आकर्षित अवश्य कर दिया।

(४) प्रेमोपासक (Love mystics) इनके अनुसार "अज्ञात" से मिलाने का उपाय एक मात्र प्रेम है। इनके मतानुसार प्रेम केवल उच्छ्वास मात्र ही नहीं है, वरन् वह एक निग्रह-साधन भी है। इस मत के अनुयायी ब्रह्म की भावना अनन्त सौंदर्य्य और अनन्त गुण-सम्पन्न प्रियतम के रूप में करते हैं। यही सूफी मत है। सूफी लोग ब्रह्मानन्द का वर्णन लौकिक प्रेमानन्द के रूप मे करते हैं और इस प्रसग मे शराब, मद आदि को भी ले आते है। कबीर के ऊपर भी इस रग का काफी असर है। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। आधुनिक प्रेम-मस्त प्राणियो की इच्छा कायर की समर-

लालसा है जो [illegible] की [illegible] सुनते ही विलुप्त हो जाती है, परन्तु कबीर प्रेम-भक्त साधकों में से हैं। कबीर के प्रेम में ममत्व नहीं, वरन आत्म-समर्पण है। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रियतम से साक्षात्कार होने पर कबीर कहते हैं—

> लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
> लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

प्रेम की इसी शुद्ध एवं उच्चतम अवस्था में प्रियतम के प्रेमानुराग से अतिरेक होकर प्रेमी आह्लादित हो गाने लगता है—

> हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।
> रहें आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या॥
>
> जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-ब-दर फिरते।
> हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या॥
>
> न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़े पियारे से।
> उन्हीं से नेह लागी है, हमन को बेकरारी क्या॥
>
> कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से।
> जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या॥

हे परमात्मन ! [illegible]
[illegible]
१.

आनन्द की यह भीनी झलक क्या कभी हमें भी देखने के लिए मिलेगी ? आह !

> सो दिन कैसा होयगा गुरू गहिंगे बाँह ।
> अपनाकर बैठावहिं चरन कमल की छाँह ॥

—सोमनाथ गुप्त

अयोध्याकांड के मुख्य पात्रों पर धर्म-संकट
और
उनका निर्णय

या अनेक बार धर्म-सकट (Conflict of duty) पडा है और उसका बडा ही अच्छा निर्वाह हुआ है। पात्रों के सामने दो विरोधी कर्तव्य आ जाते हैं और उन्हे उन दोनो पर विचार करके अपना मार्ग निश्चित करना पडता है। यहाँ हम इस काड की दूसरी विशेषता अर्थात् पात्रों के धर्म-सकट तथा उनके निर्वाह पर विचार करेंगे।

यह विचार करते समय कि अमुक पात्र ने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया है वह ठीक है या नहीं, एक बडी कठिनाई हमारे सामने आ जाती है। यदि हम उनको धार्मिक अवतारी अथवा आदर्शपुरुष की दृष्टि से देखते हैं, तो हमारा निर्णय कुछ और ही होता है, और यदि हम उन्हे राजनीतिक दृष्टि से देखते हैं तो हमारा निर्णय दूसरा होता है।

अयोध्याकाड में सबसे पहले धर्म-सकट कैकेयी के सम्मुख उपस्थित होता है। वह राम का राज्याभिषेक सुनकर आनद मनाये या उनको वन भेजकर अपने पुत्र भरत को राज्य दिलाये। यथार्थ मे इसे हम धर्म-सकट नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ दो विरोधी कर्तव्य कैकेयी के सामने एक साथ नहीं आते। इसे हम अद्भुत विचार-परिवर्तन कह सकते हैं। फिर भी इस विचार-परिवर्तन पर विवेचना करना विषयान्तर न होगा, क्योंकि दोनो विचार हैं अत्यत विरोधी।

मथरा जब मुँह लटकाये राम के अभिषेक का समाचार कैकेयी

को सुनाने जाती है, तो कैकेयी उसे उदास देखकर सबसे पहले राम की कुशल पूछती है और भरत की उसके बाद। यथा—

'सभय रानि कह कहसि किन, कुसल रामु महिपालु।
लखन भरत-रिपुदमन सुनि, भा कुबरी उर सालु॥'

इसके बाद जब मंथरा बताती है कि राम को कल राज्य मिलेगा तो कैकेयी को बड़ी प्रसन्नता होती है। वह कहती है—

'राम तिलकु जौं साँचेहु काली। देउँ मागु मनभावत आली।'

मंथरा कैकेयी को अब यह समझाती है कि राजा ने जान बूझ-कर भरत को ननिहाल भेजा है और कौशिल्या ने राम को राज्य दिलाने का यह अच्छा अवसर सोचा है। यह बात भी कैकेयी के हृदय में राम के प्रति कोई विरोध उत्पन्न नहीं कर पाती, परन्तु उसे मंथरा का इस भाँति समझाना बुरा लगता है। वह मंथरा को आपस में फूट कराने के लिए डाँटती है—

'पुनि अस कबहुँ कहसि घर फोरी। तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी।'

× × ×

'आनेउ अहित लागु हित मोरे। [illegible]॥'

यहाँ तक तो कैकेयी का [illegible] है और [illegible] विशेष [illegible] है परन्तु इसके बाद मंथरा का [illegible] कहना—

'अनभल देखि न जाइ तुम्हारा।'

'जरु तुम्हारि यह सवति उखारी।'

'भामिनि भयउ दूध की माखी।',

आदि बातें उसका मन फेर देती हैं। वह राम की पक्की शत्रु हो जाती और कहती है—

'नैहर जनमु भरब बरु जाई। जियत न करब सवति सेवकाई।'

अब तो उसे केवल इतने ही से सतोष नहीं है कि भरत को राज्य मिले, वह यह भी चाहती है कि राम वन को अवश्य जायँ। उसे अब राम के नाश ही में अपना सुख दिखाई देता है।

कैकेयी का यह निश्चय, चाहे हम उसे किसी भी दृष्टि से देखें, उचित नहीं जान पड़ता। यदि हम कैकेयी को एक उच्चकुल की स्त्री मानकर इस पर विचार करें, तो उसका यह निर्णय नितान्त अनुचित है। अपनी ही सौत के लड़के राम को, जो उसे स्वय अपनी माता से अधिक मानता है, बिना किसी अपराध के वनवास दिलाना भला कौन उचित कहेगा? राजनीतिक दृष्टि से भी कैकेयी का यह कार्य अनुचित है। उसे विचार लेना था कि दशरथजी राम के बिना नहीं जी सकते तथा भरत को भी इससे प्रसन्नता न होगी। परन्तु जिस समय हमें यह स्मरण हो आता है कि कैकेयी की 'गई गिरा मति फेरि' तो तुरन्त ही वह हमें निर्दोष जान पड़ती है और सारा अपवाद भवितव्यता के ऊपर चला जाता है।

दूसरा धर्म-संकट राजा दशरथ के सामने उपस्थित होता है। वह अपने प्राणों से प्यारे राम को, कैकेयी को वचन दे चुकने के कारण, वन भेजें अथवा उन्हें घर रखकर अपने प्रण को तोड़ दें। उन्होंने राम को तिलक करने की तैयारी यही जानकर की थी कि यह कार्य सब को अच्छा लगेगा। उन्हें स्वप्न में भी यह ध्यान न आया था कि कैकेयी राम-वनवास का वरदान माँगेगी, अन्यथा वह इसमें कभी अग्रसर न होते। वह कैकेयी से कह रहे हैं—

'भामिनि भयेउ मोर मनभावा। घर-घर नगर अनंद बधावा।'

परन्तु उसका मनभाया तो राम के वनवास ही में है। दशरथजी यहाँ तक राजी हो जाते हैं कि भरत ही युवराज हों। राम वन न जाने पावें, चाहे उनके प्राण शरीर से क्यों न चले जायँ।

'मागु माथ अबहीं देउँ तोही। राम बिरह जनि मारसि मोही।'

अन्त में जब कैकेयी किसी भाँति नहीं मानती, तो [illegible]

'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं बरु बचनु न जाई।'

के अनुसार अपने प्राण [illegible] है। [illegible]
[illegible] होते हैं—

'[illegible]'

[illegible]

यह समझते हुए वचन दिया था कि कैकेयी राम के विरुद्ध कभी कोई वरदान नहीं मॉगेगी। राम की ही शपथ खाकर वचन देना इस बात का प्रमाण है—'भामिनि राम शपथ सत मोही।' यद्यपि यह रघुकुलरीति थी कि 'प्राण जाहि वरु वचन न जाई' तथापि *दूसरी ओर यह भी तो रघुकुल-रीति थी कि युवराज-पद सबसे बडे पुत्र ही को मिले, अतएव राजा दशरथ ने जब रघुकुल-रीति तोडी ही, तो पहली रीति तोड देते, जिससे सब काम बन जाता। हम समझते हैं कि दशरथ को उस विपत्ति के समय में इस दूसरी रीति का ध्यान न रहा होगा, नहीं तो वह ऐसा निश्चय कदापि न करते।

तीसरा धर्म-सकट रामचन्द्रजी के सम्मुख उपस्थित होता है। उनका धर्म-सकट यह है कि वे पिता की आज्ञा मानकर वनवास करें अथवा उसे अनुचित समझकर अयोध्या मे रहें और राज्य करें। आज रामचन्द्रजी को कुलगुरु वशिष्ठ उनके घर जाकर उन्हे उनके राज्याभिषेक की सूचना देते हैं, जिसे सुनकर उनका सहज शुद्ध स्वभाव उसमे अनौचित्य पाता है। उनका स्वभाव उनसे यह कहलाता है—

'बिमल बश यह अनुचित एकू। अनुज बिहाइ बडेहि अभिषेकू।'

* विमल वस यह अनुचित एकू।
अनुज बिहाइ बडेह अभिषेकू॥

दूसरे ही दिन उनको एक बिलकुल विपरीत आज्ञा मिलती है। कैकेयी की आज्ञा पाकर सुमन्त रामचन्द्र को राजा दशरथ के पास बुलाने जाते हैं। कैकेयी से पूछने पर उन्हें सब बात मालूम होती है। राम को विदित होता है कि उन्हें चौदह वर्ष के लिए वनवास की आज्ञा मिली है। यद्यपि यह आज्ञा पहले दिन के निश्चय के बिलकुल विपरीत है परन्तु उसे मानने में वे तनिक भी संकोच नहीं करते, उसे अपना बड़ा भाग्य मानते हैं।

'सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु-मातु बचन अनुरागी।'

यदि सच पूछा जाय तो राम के सामने यह धर्म संकट आया ही नहीं है कि वह वन को जायँ या न जायँ। वे तो माता-पिता के आज्ञाकारी पुत्र हैं। उनको वन जाने में प्रसन्नता होती है और यह प्रसन्नता और भी बढ़ जाती है, जब वहाँ उन्हें पिता माता की भी आज्ञा है। वे कहते हैं—

'मुनिगन मिलनु बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर।'

भरत को राज्य मिलता है इससे भी राम के लिए कैसा आनन्द है—

'भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥'

राम वहाँ से बाहर निकलते हुए कौशल्या के पास पहुँचे और उनको वनवास का समाचार इस भाँति सुनाया—

'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।'

और उनसे वन जाने की आज्ञा माँगी। राम ने यहाँ 'अनुचित उचित विचार तज' कर और 'पितु बैन' पालन करके अपूर्व पितृ-भक्ति दिखलाई है। हमें यहाँ यह विचार करना है कि रामचन्द्रजी ने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया, वह ठीक है या नहीं। इस प्रश्न पर तुलसीदासजी के समकालीन तथा उनके परिचित सुकवि रहीम अपनी सम्मति इस भाँति देते हैं—

'अनुचित वचन न मानिये, यदपि गुरायसु गाढि।
है 'रहीम' रघुनाथ तै, सुजस भरत को बाढि॥

इस विषय पर दो प्रकार से विचार करना उचित है।' यदि हम राम को आदर्श पुत्र और—

'प्रसन्नता यो न गतोभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदु खत'

वाले विचारो को मानकर विचार करें तो उनका इस विषय का निर्णय सर्वथा उचित जँचता है। दूसरी ओर यदि हम राम को राजनीतिज्ञ मान लें, तब तो यही कहना पडता है कि राम ने वन जाकर भारी भूल की। हम देखते हैं कि सारी अयोध्या को उनके वन जाने की आज्ञा सुनकर दु ख हुआ है और अयोध्यावासी राजा दशरथ की इस आज्ञा को अनुचित मानते हैं। अतएव राम सहज ही में वन न जाकर युवराजपद ले सकते थे। राम यह भी जानते हैं कि राजा दशरथ स्वय भी उनके इस आज्ञा-उल्लघन ही में सुखी होगे।

वे उनके बिना जी नहीं सकते। उधर भरत भी उनके इतने भक्त हैं कि राम को युवराजपद लेने में उन्हें प्रसन्नता ही होगी। रघुकुल-नीति तो यह थी ही कि युवराजपद सबसे बड़े को मिले। अतएव राम अपने पिता की आज्ञा को न मानकर सारी आपत्तियों का निवारण कर सकते थे। परन्तु राम को तो यह रीति पहले ही अनुचित जान पड़ी थी, तब वे भला पितृ-आज्ञा उल्लंघन करके युवराजपद कैसे स्वीकार करते।

राम का वन जाना निश्चित होते ही सब साथ वाले पात्रों पर धर्म-संकट आ पड़ते हैं। कौशिल्या राम को वन भेजें या न भेजें, सीता राम के साथ वन जाँय या घर रहें, यही प्रश्न लक्ष्मण के सामने भी है। सुमित्रा लक्ष्मण को राम की सेवा में भेजें या नहीं और स्वयं राम इन दोनों को वन ले जाँय या घर ही पर रहने की आज्ञा दें यह अजब समस्या पैदा हो गयी है। प्रायः प्रत्येक मुख्य पात्र के हृदय में भी विरोधी भावों का युद्ध हो रहा है। यहाँ हम इन सब पर क्रमशः विचार करेंगे।

कौशिल्या को राम-वनवास की आज्ञा सुनकर बड़ा भारी धक्का पहुँचता है। कहाँ तो वे इस विचार में मग्न हैं कि प्यारे राम को युवराजपद मिलेगा और कहाँ बिना किसी पूर्व सूचना के एकाएक उनको राम वनवास की खबर मिलती है। यदि पहले इस बात की पहले से किंचित भी सूचना होती तो भी शायद इस पर इतनी अधिक चोट न पहुँचती। वे [illegible] की इस

सुनकर बड़े ही धर्म-संकट में पड़ जाती है। कौशिल्या के धर्म-संकट को गोस्वामीजी ने इस भाँति वर्णित किया है—

राखौं सुतहिं करौं अनुरोधू। धरम जाइ अरु बंधुबिरोधू॥
कहौं जान बन तौ बड़ि हानी। संकट-सोच-बिबस भै रानी॥

इस कठिनाई को सुलझाने की एक युक्ति कौशिल्या के ध्यान में आती है। वह राम से यह पूछती है कि वन जाने की आज्ञा तुमको केवल तुम्हारे पिता ने ही दी है या कैकेयी ने भी। यदि पिता ने ही आज्ञा दी हो, तो मैं तुम्हें वन न जाने की आज्ञा देती हूँ और तुम माता की आज्ञा पिता की आज्ञा से बड़ी जान कर घर पर रहो।

'जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।'

परन्तु वहाँ तो माता व पिता दोनों की यही आज्ञा है, यह जानकर फिर कौशिल्या संकट में पड़ जाती हैं। अन्त में उनका स्त्री-धर्म तथा राम और भरत दोनों के प्रति समान प्रेम उनसे राम को वन जाने की आज्ञा दिला देता है।

'बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। राम भरत दोउ सुत सम जानी।
तात जाउँ बलि कीन्हेंहु नीका। पितु आयसु सब धरम क टीका।'

कौशिल्या के इस निर्णय पर विचार करते समय यद्यपि उनके स्त्री-धर्म को मातृ-धर्म पर प्रधानता देना कुछ अनुचित प्रतीत होता है, परन्तु उनका भरत को राम ही के समान अपना

पुत्र समझने का विचार इस अनौचित्य को बिलकुल दूर कर देता है। यदि किसी माता के दो समान पुत्र हों और उनमें एक को वनवास व दूसरे को युवराजपद मिल जाता हो, तो वह कैसे यह कहेगी कि दूसरे को युवराजपद न देकर पहले को दिया जाय। अतएव कौशिल्या का यह निर्णय अनुचित नहीं जान पड़ता।

राम के वनवास की बात सुन सीताजी व्याकुल हो उठीं। उनकी इच्छा यह हुई कि राम उनको भी अपने साथ ले जावें, परन्तु इस बात का विश्वास नहीं हुआ कि राम ले ही जावेंगे। अतएव वे सोचती हैं—

'की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतब कछु जाइ न जाना।'

यह तो सीताजी विचार करती हैं कि यदि राम मुझे साथ न भी ले जावेंगे, तो भी मेरे प्राण अवश्य ही राम के साथ जावेंगे। सीताजी को घर । कौशिल्याजी घर रहने के लिए समझाती हैं, परन्तु यह समझकर कि शायद राम के समझाने का असर अधिक पड़े, वह राम से कहती हैं—

जौं सिय भवन रहै कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा।

रा. [illegible] की इच्छा, माता [illegible] हैं परन्तु [illegible] का विचार [illegible] है। वे [illegible] के [illegible] के [illegible] और [illegible]

सुकुमारता से उनकी तुलना करके, उन्हे हतोत्साह करना चाहते हैं। सीता यह सब सुनकर भी अपने निश्चय पर दृढ रहती हैं और राम की इन बातों का उत्तर बडी सुन्दरता से देती हैं। वे व्यंगमय वचनों में राम से कहती हैं—

'मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू। तुमहि उचित तप, मोकहँ भोगू।'

राम अब सीता को दूसरी ही प्रकार से समझाते हैं। वह सीता से कहते हैं कि तुम घर पर माता पिता की सेवा करने के लिए रहो, माता-पिता की सेवा करना तुम्हारा धर्म है। जब वे हमारे विछोह से दुखी हों, तब तुम उन्हें अपनी 'मृदुबानी' से समझाना। सीताजी को यह सब शिक्षा अनुचित जान पडती है। पतिव्रत के सामने 'सादर सास-ससुर-पद-पूजा' उन्हे फीकी जँचती है। अतएव वे कहती हैं—

'मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं। पिय वियोग सम दुख जग नाहीं।'

× × ×

'तनु धनु धामु धरनि सुरराजू। पतिविहीन सब सोक-समाजू।'

अन्त में उनका वन जाना तय हो जाता है और वह भी कौशिल्या से विदा माँगती हैं।

हमे सीताजी का यह निश्चय बिलकुल उचित जान पडता है। स्त्री का कर्तव्य यही है कि वह पति का विपत्ति मे भी साथ

न छोड़े, फिर भला सीता जैसी आदर्श स्त्री का तो यह कर्तव्य होना ही चाहिए।

रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त लक्ष्मण ने जब राम-वनगमन का समाचार सुना, तो वे घबरा गये। उनके मन में यह शंका आने लगी—

'मोरहुँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा।'

राम उनको भी घर रहने की शिक्षा देते हैं और कहते हैं कि माता पिता को सान्त्वना देते रहना। लक्ष्मण अपने आराध्य-देव राम के वचनों का उत्तर नहीं दे सकते। उनकी समझ में राम की बात को काटना अनुचित होगा, परन्तु घर पर न रहने की बेबसी को वे अपनी आकृति द्वारा प्रकट कर देते हैं। वे नम्रवाणी कह उठते हैं—

'नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ।'

×   ×   ×

'मोरे सबइ एक तुम स्वामी। दीनबन्धु उर अन्तरजामी।'

राम को लक्ष्मण की [illegible] पर प्रीति देखकर [illegible] को साथ चलने की [illegible] देनी ही पड़ती है।

लक्ष्मण का यह कर्तव्य [illegible] से कुछ अनुचित नहीं [illegible]। [illegible] ही किसी मनुष्य का कर्तव्य

अपने भाई के प्रति उतना नहीं होना चाहिए, जितना अपने माता-पिता के प्रति, फिर ऐसे विशेष अवसर पर, जब कि भरत व शत्रुघ्न भी घर पर नहीं है और माता-पिता पर विपत्ति पड़ी है, लक्ष्मण को अपने पिता की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था। यह तो बात ही और है कि लक्ष्मण राम ही को सर्वस्व समझते हों— 'मोरे सबइ एक तुम स्वामी।'

लक्ष्मण का सुमित्रा के पास वन जाने की आज्ञा लेने जाते ही सुमित्रा पर भी धर्म-सकट आ जाता है। वे मोह में फँस-कर लक्ष्मण को वन जाने से रोकें या उन्हें वन भेजें। इस सम्बन्ध में सुमित्रा का निर्णय सर्वथा स्तुत्य है। यद्यपि लक्ष्मण अपनी माता से आज्ञा माँगने में सकुचते हैं—

'माँगत विदा सभय सकुचाहीं। जाइ सग, विधि, कहहि कि नाहीं।'

परन्तु सुमित्रा अपने मोह को दबाकर लक्ष्मण को वन जाने की आज्ञा देने मे तनिक भी नहीं सकुचती, वरन् उन्हें राम-जानकी की सेवा करने का उपदेश देती हैं। वे अपने धर्म-सकट को तुरन्त ही दूर करके अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती हैं। उनकी निम्नलिखित सीख बड़ी ही जोरदार है—

'तात तुम्हारि मातु वैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही।'

× × ×

'जौं पे सीय-रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कुछ नाहीं।'

× × ×

'जेहि न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहै उपदेसू।'

सुमित्रा मे मोह को अपने हृदय से दूर हटा देने की शक्ति है। उनका लक्ष्मण को उपदेश आदर्श भ्रातृ-भक्ति का उपदेश है।

यदि सच पूछा जाय, तो अयोध्याकाण्ड भर में धर्म सकट केवल भरत ही पर पड़ता है। वे दो विरोधी कर्तव्यों के बीच में बुरी तरह पिस रहे हैं। एक ओर माता-पिता की उनके लिए यह आज्ञा है कि वह राज्य स्वीकार करें। गुरु-गुरु इत्यादि भी उनको राज्य स्वीकार करने के लिए ही तैयार कर रहे हैं। दूसरी ओर उनका अन्तःकरण उनसे बार-बार कह रहा है कि यह आज्ञा अनुचित है। राम के साथ बड़ा ही अन्याय किया गया है, राज्य पाने के अधिकारी वे ही हैं, अतएव तुम यह पद स्वीकार न करो।

भरत अपने ननिहाल से लौटकर अयोध्या को आ रहे हैं। भाँति भाँति के अपशकुनों से उन्हें भारी अनिष्ट की सूचना मिल रही है। कैकेयी से मिलते ही वे अपने पिता तथा राम आदि का कुशल पूछते हैं। कैकेयी अपने मन में समझती है कि भरत उसके करतूतों को सुनकर बहुत प्रसन्न होंगे। वे कहती हैं—

'तात बात मैं सकल सँवारी। भइ मंथरा सहाय बिचारी।'

परन्तु भरत जी ही स्वयम् की [illegible]

अपने भाई के प्रति उतना नहीं होना चाहिए, जितना अपने माता-पिता के प्रति, फिर ऐसे विशेष अवसर पर, जब कि भरत व शत्रुघ्न भी घर पर नहीं है और माता-पिता पर विपत्ति पड़ी है, लक्ष्मण को अपने पिता की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था। यह तो बात ही और है कि लक्ष्मण राम ही को सर्वस्व समझते हों— 'मोरे सबइ एक तुम स्वामी।'

लक्ष्मण का सुमित्रा के पास वन जाने की आज्ञा लेने जाते ही सुमित्रा पर भी धर्म-सकट आ जाता है। वे मोह में फँस कर लक्ष्मण को वन जाने से रोकें या उन्हें वन भेजें। इस सम्बन्ध में सुमित्रा का निर्णय सर्वथा स्तुत्य है। यद्यपि लक्ष्मण अपनी माता से आज्ञा माँगने में सकुचते हैं—

'माँगत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ सग, विधि, कहहि कि नाहीं।'

परन्तु सुमित्रा अपने मोह को दबाकर लक्ष्मण को वन जाने की आज्ञा देने में तनिक भी नहीं सकुचतीं, वरन् उन्हें राम-जानकी की सेवा करने का उपदेश देती हैं। वे अपने धर्म-सकट को तुरन्त ही दूर करके अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती हैं। उनकी निम्नलिखित सीख बड़ी ही जोरदार है—

'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही।'

× × ×

'जौं पै सीय-रामु वन जाहीं। अवध तुम्हार काज कुछ नाहीं।'

× × ×

कौशिल्या का मन उनकी ओर से बिलकुल साफ था। तो भी भरत को यह निश्चय कराने के लिए कि उन्हें उनकी नेकनीयती का पूर्ण विश्वास है, कौशिल्या को यह कहना पड़ता है—

'मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥'

राजा दशरथ के शव का दाह-संस्कार आदि करने के बाद वशिष्ठजी भरत को ज्ञानोपदेश करते हैं और उनसे पिता की आज्ञा मानने का अनुरोध करते हैं।

'अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति ऐन॥'

ये उपदेश भरत के ध्यान में बिलकुल नहीं आते। वे अपनी बात पर दृढ़ रहते हैं और यह विचार करते हैं कि वे राम को वन से लौटाकर सिंहासन पर बैठावें और स्वयं उनके बदले वनवास करें। अतएव वे माताओं, गुरु वशिष्ठ तथा सकल परिवार को लेकर राम-लक्ष्मण से मिलने चल दिये। चित्रकूट पहुँचकर भरत राम से मिले और सब तरह से घर लौट चलने का विनय किया; परन्तु राम ने [illegible] की दृढ़ता दिखाई, और भरत को भी पिता की आज्ञा पालन करने का उपदेश दिया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस अवसर पर वशिष्ठजी भी, भरत की ओर से बोलते रहे हैं और राम से राज्य स्वीकार करने को कहते हैं। तुलसी ने अपने इस सिद्धान्त को इस भाँति प्रकट किया है—

लक्ष्मण के वनवास की सूचना पाते हैं, त्योंही वे बड़े ही दुखी होते हैं। सबसे अधिक दुख उन्हें इस बात का है कि उनके ही कारण इतना उपद्रव हुआ है। उनकी ही भलाई के लिए उनकी माता ने इतना बड़ा अनर्थ कर डाला। अतएव वे कह उठते हैं—

'घर माँगत मन भइ नहि पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।'

× × ×

कइकइ कत जनमी जग माझा। जो जनमति भइ काहे न बाझा।
कुल कलंक जेहि जनमेउ मोहीं। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही।'

भरतजी तुरन्त कौशिल्या के पास जाते हैं। उन्हें अब यह बात आवश्यक जान पड़ती है कि वे कौशिल्या आदि को यह विश्वास दिला दें कि वे स्वयं इस षड्यन्त्र से बिलकुल अलग थे। वे सैकड़ों शपथ खाते हैं कि मेरी सम्मति से ये वरदान कदापि नहीं माँगे गये हैं।

'जे अघ मातु-पिता सुत मारे। गाइ-गोठ महिसुरपुर जारे।
जे पातक उपपातक अहहीं। करम-वचन-मन-भव कवि कहहीं।
ते पातक मोहि होहु विधाता। जौं एहु होइ मोर मत माता।'

'जे परिहरि हरिहर चरन, भजहिं भूत घनघोर।
तेहि कैं गति मोहि देहु विधि, जौं जननी मत मोर॥'

परन्तु वहाँ तो इन शपथों की आवश्यकता ही नहीं थी।

कौशिल्या का मन उनकी ओर से बिलकुल साफ था। तो भी भरत को यह निश्चय कराने के लिए कि उन्हें उनकी नेकनीयती का पूर्ण विश्वास है, कौशिल्या को यह कहना पड़ता है—

'मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं।'

राजा दशरथ के दाह का महासंस्कार आदि करने के बाद वशिष्ठजी भरत को ज्ञानोपदेश करते हैं और उनसे पिता की आज्ञा मानने का अनुरोध करते हैं।

'अनुचित उचित विचार तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति ऐन॥'

ये उपदेश भरत के ध्यान में बिलकुल नहीं आते। वे अपनी बात पर दृढ़ रहते हैं और यह विचार करते हैं कि वे राम को वन से लौटाकर सिंहासन पर बैठाएँ और स्वयं उनके बदले वनवास करें। अतएव वे माताओं, गुरुकुल वशिष्ठ तथा समस्त फौज को लेकर रामचन्द्रजी से मिलने चल दिए। चित्रकूट पहुँचकर भरत राम से मिले और उन्हें हर तरह से घर लौट चलने के लिए विवश किया, परन्तु राम ने घर को न लौटने की दृढ़ता दिखाई, और भरत को भी पिता की आज्ञा पालन करने का उपदेश दिया। यह बात स्पष्ट है। निश्चय है कि इस अवसर पर वशिष्ठजी भी भरत की ओर से पैरवी कर रहे हैं और राम से राज्य स्वीकार करने को कहते हैं। भरत ने अपने इस विचार को इस भाँति प्रकट किया है—

'सानुज पठइय मोहि वन, कीजिय सबहि सनाथ।
नतरु फेरि यहि बधु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ॥'

इससे यह प्रकट होता है कि भरत राम को अयोध्या लौटा ले चलने पर उतना जोर नहीं देते, जितना कि अपना राम के साथ रहने और उनकी सेवा करने पर। राम भरत को अयोध्या का प्रबन्ध करने के लिए लौटाना ही चाहते हैं और उन्हें अत्यन्त गम्भीर उपदेश देते हैं, जिसे सुनकर भरत को विवश होकर कहना पडता है—

'अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई।
सो अवलन देउ मोहि देई। अवधि पार पावौं जेहि सेई।'

यहाँ पर राम ने भरत को राज्यशासन सम्बन्धी उपदेश दिया है। यह उपदेश तो भरत को बहुत उचित जँचा, परन्तु बिना किसी आधार के उनका मन शात न हुआ।

'बन्धु प्रबोध कीन्ह बहु भांती। बिनु अधार मन तोषु न साँती।

अतएव राम ने उनको अपनी खड़ाऊँ दे दी और भरत उन्हें सादर लेकर चल दिये।

'प्रभु करि कृपा पावरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।'

उन्हीं खडाउओं को सिंहासन पर रखकर और स्वय तपस्वी और सेवक के समान रहकर राज काज करने लगे। अब उनका यह नित्य-कर्म होगया—

'नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत, राज-काज बहु भाँति॥

जितना ही विकट धर्म-संकट भरत के सामने उपस्थित हुआ है उतना ही अच्छा उन्होंने उसका निर्वाह भी किया है। उन्होंने एकबारगी राज्यसिंहासन स्वीकार न करके अपनी उदारता दिखाई है, अपने मन को भी समझा लिया है, और अन्त में राज-काज भी अव्यवस्थित नहीं होने दिया है। राजा के कार्य करते हुए भी उन्होंने राज्य के आनन्द का भोग नहीं किया है। उन्होंने अपने पिता की आज्ञा का सम्पादन भी किया और उसका पालन भी किया है। राज्य भार तो अपने ऊपर ग्रहण भी किया, परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी दिखला दिया कि वास्तव में राज्य पर उनका कोई अधिकार नहीं है। वह तो राम ही को मिलना चाहिए था। राज-काज तो भरत स्वयं सँभालते हैं परन्तु राजसिंहासन पर राम की पादुका बैठी है। यदि भरतजी सिंहासन पर बैठे ही राज्य ग्रहण कर लेते, तो यह केवल आज्ञा का ही पालन होता, परन्तु ऐसा न करने से उनका चरित्र बहुत उज्ज्वल हो गया है। [illegible] कि भरत वास्तव में राज्य करना चाहते थे, परन्तु उनके चरित्र को उज्ज्वल करने के लिए [illegible] किया है। [illegible] समझना भ्रमपूर्ण है। [illegible] और [illegible] भरत के प्रति [illegible] नहीं हो सकता।

अन्त मे हम देखते हैं कि इस काड भर में वास्तव मे केवल तीन धर्म-स कट आते हैं। पहला राजा दशरथ पर, दूसरा कौशिल्या पर, और तीसरा भरत पर। सब से बडा धर्म-सकट भरत के सम्मुख है और उसका निर्वाह भी उसी के अनुरूप हुआ है। हम दशरथ के धर्म-सकट-निर्वाह से सन्तुष्ट नहीं हैं। उनका अपनी कुटिल स्त्री से प्रतिज्ञावद्ध होकर उसीके वचन को सब परिस्थितियो में प्रतिपालन करना ठीक नहीं जँचता। उन्हे ऐसे अनुचित निर्णय का फल भी उनकी मृत्यु के रूप मे तुरन्त ही मिल गया। कौशिल्या ने अपने धर्म-सकट का हमारे विचार मे उचित निर्वाह किया है।

यहाँ पर यह दिखा देना अनुचित न होगा कि हमारे कवियो की रचनाओ मे धार्मिकभावो के आजाने के कारण, कला की दृष्टि से, उनमे कैसी असम्बद्धता आ जाती है। इतना सब उपर्युक्त विचार करने के बाद भी ज्योंही हम इस बात को याद दिलानेवाली कोई पक्ति पढते हैं कि राम, दशरथ आदि पात्र जो कुछ कहते या करते हैं वह अपनी प्रेरणा से नहीं, वरन् एक और ही कार्य के निमित्त, तो इन पात्रो के कार्यों की वास्तविकता जाती रहती है। कौशिल्या व दशरथ का राम के लिए विलाप, सीता का वन जाने के लिए अनुरोध आदि बातें बनावटी और अवास्तविक लगने लगती हैं। ऐसा जान पडता है कि राम, दशरथ, सीता आदि पात्र किसी नाटक का अभिनय कर रहे हैं। —भद्रप्रसाद

कविवर नन्ददास

की

रास-पञ्चाध्यायी

प्रस्तावना

जिस समय महाप्रभु वल्लभाचार्य उत्तरीय भारत में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे थे, उस समय ब्रजभाषा श्रीकृष्ण के पद पर [illegible] थी. उसमें काव्यरीति का साहित्य निर्माण करने की शक्ति आ गई थी, किन्तु अभी तक भाषा पर किसी का अच्छा [illegible] रूप से स्थापित नहीं हुआ था। [illegible] था। [illegible]

किसे परवा थी जो भाषा के सौष्ठव पर ध्यान देता ? यही क्या कम था कि कुछ वर्ष पहले "काशी का जुलाहा" अपनी 'रमैनी' और 'बीजक' मे भाषा का कुछ राग अलाप गया था। चाहे उसका उद्देश अपने 'पथ' का प्रतिपादन ही क्यों न रहा हो, किन्तु उसने अपनी भद्दी भाषा मे भी वह सजीवता भरी कि हमारी भाषा के आचार्य भी उसकी भाषा की सादगी और सजीवता का लोहा मानने के लिए तैयार हैं। यद्यपि कबीर साहब का उदाहरण सामने मौजूद था, किन्तु वल्लभाचार्य के पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने भाषा को बोलचाल का खिलौना ही समझकर छोड़ दिया था। पर इस समय भाषा का भाग्य ही दूसरा होना था। वल्लभाचार्य के नये मत-प्रचार के इस परम उद्वेलित महासागर में भी भाषा-सौन्दर्य्य की एक ऐसी लहर आई, जिसका रूप-सौन्दर्य्य सारे संसार ने देखा। धर्म के महत्त्व से भाषा का महत्त्व कहीं आगे बढ गया। जिस भाषा के सहारे नया मत जनता में फैलाया जा रहा था, वह धर्म तो एक ओर रहा, भाषा सर्वत्र व्याप्त हो गई।

ब्रजभाषा की इस उन्नतावस्था ने कवियो के हाथ मे ऐसी सामग्री दी, जो वास्तव में विश्व-साहित्य का निर्माण कर सकती थी। एक ओर तो भाषा का उन्नत स्वरूप "करतलगत आमलक" की भाँति कवियो के निकट था, दूसरी ओर थी वल्लभाचार्यजी की राधा-कृष्ण की प्रेम-कहानी। एक

ओर उत्तम रंग था, तो दूसरी ओर चित्रपट। ऐसी अवस्था में काव्य-चित्र के निर्माण में रुकावट ही क्या थी। एक साथ हजारों लेखनियाँ चल पड़ीं। सभी में राधा-कृष्ण का नाम था, व्रजभाषा का मधुर रंग था, और भावुक हृदय की उत्सुक उमङ्ग थी। पर सभी लेखनियाँ एक ही कथा को एक ही भाँति नहीं लिख सकीं—[illegible], [illegible], [illegible] का [illegible] हटाये नहीं हट सका।

वल्लभाचार्यजी के चार शिष्य थे। ये भी वल्लभाचार्यजी के स्वरों में श्रीकृष्ण-चर्चा किया करते थे। वल्लभाचार्यजी के एक पुत्र भी था, जिसका नाम विट्ठलनाथ था। विट्ठलनाथ ने भी शिष्य बनाने में अपने पिता का अनुकरण किया। उन्होंने भी चार शिष्य बनाये। इस प्रकार अपने और पिता के चार-चार शिष्यों को मिलाकर उन्होंने 'अष्टछाप' की स्थापना की। प्रस्तुत कवि नन्ददासजी उसी 'अष्टछाप' में विट्ठलनाथ के शिष्य थे। शिक्षा के विचार से इन्होंने काव्य की यह प्रतिभा दिखलाई कि उनका शिक्षक उनके कवित्व से कोसों दूर पीछे रह गया। इन्होंने भी राधा-कृष्ण की लीलाओं में डूबकर लेखनी उठाई। तन्मय होकर इन्होंने जो कुछ लिखा, वह अद्वितीय है। इन्होंने अपने माधुर्य के रस में अपनी लेखनी डुबाकर लिखा था। इस [illegible] की कविता [illegible] कर [illegible] है—

'ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।'
आदि पद याद आ जाते हैं।

नन्ददासजी ने मुख्यतः चार-पाँच ग्रन्थों की रचना की है। उन सभों में 'रासपञ्चाध्यायी और भँवरगीत' मुख्य है। केवल यही ग्रन्थ कवि को अमर कर देने के लिए पर्य्याप्त है।

रचना काल

शिवसिंह-सरोज के अनुसार यह ग्रन्थ संवत् १५८५ के लगभग बना। यह संवत् केवल अनुमान पर ही निर्भर है, क्योंकि स्वयं नन्ददासजी ने किसी भी स्थान पर न तो अपने ग्रन्थ की तिथि का और न अपनी आयु ही का विवरण दिया है। भक्तमाल में भी इनकी आयु का कोई विवरण नहीं है। अतएव जब तक हमें कोई निश्चित तिथि न मिले, तब तक हमें शिवसिंह के अनुमान पर ही संतोष रखना होगा।

रचना का कारण

इसकी रचना के विषय में नन्ददासजी ने स्वयं अपनी पुस्तक के आरम्भ में एक कारण दे दिया है —

परम रसिक इक मित्र, मोहिं तिन आज्ञा दीनी।
ताहीं ते यह कथा यथामति भाषा कीनी॥

नन्ददास का यह मित्र कौन था, इस विषय में अनेक मत हैं। अधिकतर यही अनुमान किया जाता है कि गंगाबाई

विट्ठलनाथजी की एक शिष्या थीं, नन्ददासजी की उन्हीं से मित्रता थी और उन्हीं के कहने पर उन्होंने रासपञ्चाध्यायी की रचना की।

कथानक

रासपञ्चाध्यायी में श्रीकृष्ण की रास-लीला रसीले दोहा और रोला छन्द में वर्णित है। इसमें कुल पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में शुकदेवजी का शिख-नख वर्णन बड़ी ही मनोहर रीति से किया गया है। तत्पश्चात् श्रीवृन्दावन की छवि के वर्णन के साथ शरद्-रजनी की शोभा अंकित की गई है। इसी समय हम श्रीकृष्ण को मुरली में स्वर भरते हुए पाते हैं। फलतः सभी व्रजगोपिकाएँ उस मुरली-स्वर से आकृष्ट हो उसी वन में आ जाती हैं। पर जब श्रीकृष्ण उन्हें सती धर्म की शिक्षा देकर घर लौट जाने के लिए कहते हैं तो वे सभी "धाराहत की माल" के समान म्लान पड़ जाती हैं। इस अवसर पर गोपियों की दशा का बड़ा ही भाव-पूर्ण चित्र खींचा गया है। कभी उलाहना दिया गया है, कभी प्रेम प्रदर्शित किया गया है और कभी करुणा का अपार विस्तार है। अन्त में नन्दलाल गोपियों को साथ लेकर कुञ्ज में विहार करते हैं। इस पर गोपियों का हृदय गर्वित हो उठता है। यह देखकर श्रीकृष्ण कुछ देर के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं। यहीं रासपञ्चाध्यायी का प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय में गोपिकाएं श्रीकृष्ण को प्रत्येक कुञ्ज में खोजती हुई लता-वृक्षों से कृष्ण का पता पूछती हैं। यह वर्णन बहुत ही सरस और करुणा से ओतप्रोत है।

तृतीय अध्याय में गोपिकाओं का सच्चा और मनोहर प्रलाप है। कहीं-कहीं उनका उपालम्भ बहुत ही मनोहर है। वे सभी कृष्ण से पुन दर्शन देने की याचना करती हैं। व्याकुलता का बडा ही विदग्ध चित्र खींचा गया है।

चतुर्थ अध्याय मे श्रीकृष्ण पुन प्रकट होते हैं और गोपिकाए विरह के पश्चात् बडी उत्सुकता और उमङ्ग के साथ मिलती हैं। यह मिलना बडा ही स्वाभाविक और सुन्दर है। अत मे श्रीकृष्ण गोपियों से अपने अपराध की क्षमा माँगते हैं।

पाँचवें अध्याय में श्रीकृष्ण की रास-लीला का बडा ही सुन्दर वर्णन है। पद-योजना इस प्रकार की गई है कि रास का दृश्य आँखों के सामने खिँच जाता है। फिर जल-क्रीडा होती है और प्रात काल होने के पूर्व गोपियाँ अपने-अपने स्थान को चली जाती हैं। अध्याय के अन्त में नन्ददासजी ने कथा का माहात्म्य कहकर इस "उज्ज्वल रस-माल" को अपने कण्ठ मे बसने की प्रार्थना की है।

आधार

नन्ददासजी ने अपनी रास पञ्चाध्यायी का कथानक मुख्यत भागवत ही से लिया है। उसमें अनेक स्थलों पर भागवत की कथा का ही रूपान्तर है, किन्तु

हम यह नहीं कह सकते कि नन्ददासजी ने भागवत के वे अंश चुरा लिये हैं अथवा उनकी नकल कर ली है। उन्होंने जो बातें भागवत से ली हैं, वे इस प्रकार व्यक्त की गई हैं कि उन पर मौलिकता का रङ्ग नजर आता है। उनकी वर्णन-शैली और शब्द-माधुर्य्य में भागवत का अंश भी नन्ददास कृत मालूम पड़ता है। यही नन्ददासजी की काव्य शक्ति का उत्कृष्ट प्रमाण है। कथानक चाहे एक ही हो, किन्तु दोनों की वर्णन-शैली में विभिन्नता है। हम तो यही कहेंगे कि यद्यपि नन्ददासजी-रचित रास के पाँच अध्यायों के लिए भागवत दशमस्कन्ध के २९ से लेकर ३३ अध्याय तक के ऋणी हैं, किन्तु वे भावापहरण के दोषी कदापि नहीं ठहराये जा सकते।

रासपञ्चाध्यायी का दूसरा आधार हरिवंशपुराण कहा जा सकता है, क्योंकि उस पुराण के विष्णुपर्व में उसी रास का वर्णन है, जिसका वर्णन नन्ददासजी ने रासपञ्चाध्यायी में किया है। पुराण में उसका नाम 'हल्लीश क्रीड़ा' दिया गया है। इसी रास के आधार पर इस रासपञ्चाध्यायी को हरिवंश पुराण का ऋणी मान सकते हैं।

पञ्चाध्यायी का तृतीय आधार हम नन्ददास का 'सिद्धान्त [illegible]' मानते हैं। यद्यपि [illegible] और रासपञ्चाध्यायी के [illegible] [illegible] आधार [illegible] का [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], माधुर्य्य और शैली [illegible] [illegible] हुई है। [illegible]

जी ने कदाचित गीत-गोविन्द के माधुर्य्य के वशीभूत होकर ही अपने काव्य की रचना की है। दोनो की मधुरता का ढँग एक ही है।

अब हमें रासपञ्चाध्यायी के काव्य पर विचार करना है। मुख्यत काव्य के दो उपादान होते हैं। प्रथम ससार-निरीक्षण और दूसरा कौशल। ससार-निरीक्षण की क्षमता उस कवि मे होती है जो वाह्य और अन्त-प्रकृति के ध्यान में अन्तर्हित होकर कल्पना और मनोवेगों के सयोग से अपने भावो की अभिव्यक्ति करता है। उसे ससार के भिन्न-भिन्न व्यापारों का पूर्ण ज्ञान रहता है। वह प्रज्ञाचक्षु होकर किसी भी वस्तु का उत्कृष्ट वर्णन करने मे समर्थ होता है। इसका विवेचन हम 'कौशल' की मीमासा के बाद करेंगे।

काव्य

काव्य के दूसरे उपादान 'कौशल' को हम दो भागों में विभक्त करते हैं। प्रथम स्थान में किसी कवि का कौशल तब प्रकट होता है जब वह अपने काव्य की अन्तरात्मा का स्वरूप निश्चित करता है—उसमे रस, गुण आदि की सृष्टि करता है। दूसरे स्थान में कवि का कौशल उस समय दृष्टिगत होता है जब वह काव्य का वाह्य रूप (पदयोजना, अलकार,छन्द आदि) निर्धारित करता है। जो कवि जितना प्रतिभाशाली होगा वह उतनी ही उत्कृष्ट रीति से दोनों प्रकार के कौशल दिखलाने मे समर्थ

होगा। इसीके अनुसार हम नन्ददासजी के दोनों प्रकार के काव्य-कौशल पर विचार करेंगे।

रस

पहले काव्य की अन्तरात्मा का स्वरूप लीजिये। नन्ददास जी ने अपने काव्य में रस और गुण की सृष्टि बड़ी सुन्दरता के साथ की है। रसों में उन्होंने शृंगार, करुणा और शान्ति का बड़ी निराली रीति से वर्णन किया है। कुछ महाशयों (?) का कथन है कि नन्ददासजी ने अपनी रचना में शृंगार रस की प्रधानता रक्खी है और उसमें अश्लीलता की बू आ जाती है। किन्तु मैं यह पूछता हूँ कि शृंगार को प्रधान स्थान देने में दोष ही क्या है? वह रसराज है। हाँ, यदि नन्ददास जी "प्राकृत शृंगार" लिखते तो उनपर सहसा दोष लग सकता था, किन्तु उन्होंने जिस शृंगार का वर्णन किया, जिस भाव का प्रतिपादन किया, वह लौकिक नहीं, अलौकिक है, दिव्य है—मधुर है। उदाहरणार्थ इस शृंगार रस के निम्न दो पंक्तियाँ ही पर्याप्त होंगी—

इहि विधि विविध विलास हास सुख कुंज सदन के।
बढ़े अतुलित कौतुक, कोटिक कोटि मदन के॥

कितना सरस शृंगार-वर्णन है!

नन्ददासजी ने करुण रस के वर्णन करने में भी हद करदी है। गोपियों की करुण अवस्था में उन्होंने जो हृदयस्पर्शी दृश्य

गूँथे हैं, उन्हें हम केवल अनुभव कर सकते हैं, कह नहीं सकते। इस प्रकार का करुण रस हिन्दी-साहित्य में बहुत कम है—

प्रनत मनोरथ करत चरण सरसीरुह पिय के।
कह घटि जैहै नाथ, हरत दुख हमरे हिय के॥
कहँ यह हमरी प्रीति, कहाँ तुमरी निठुराई।
मनि पखान ते खचै दई तें कछु न बसाई॥
जब तुम कानन जात सहस जुगसम बीतत छिन।
दिन बीतत जिहि भाँति हमहिं जाने पिय तुम बिन॥
जब कानन तें आवत सुन्दर आनन देखै।
तब यह बिधना क्रूर करि धरी नैन निमेखै॥

अन्त में शान्त रस का कितना उज्ज्वल स्वरूप है।

श्रवन कीरतन ध्यान सार सुमिरन को है पुनि।
ज्ञान-सार हरि-ध्यान-सार, श्रुतिसार गुथी गुनि॥
अघहरनी, मनहरनी सुन्दर प्रेम बितरनी।
नन्ददास के कण्ठ बसौ नित मङ्गलकरनी॥

रास पञ्चाध्यायी मे दो गुणों की प्रधानता है। वे दोनों

गुण

गुण हैं, माधुर्य्य और प्रसाद। माधुर्य्य तो इतनी उच्च श्रेणी का है कि हमें यह कहने मे सङ्कोच नहीं है कि यह कविता शहद से भी अधिक मीठी है। प्रत्येक पद मानो अगूर का एक गुच्छा है, जिसमे मीठा रस भरा हुआ है। शब्दों की कोमलता भी हद दरजे की है।

पंक्तियों में न तो संयुक्ताक्षर हैं और न लम्बे चौड़े समास ही। शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। जो कुछ कहा गया है वह भी बहुत थोड़े शब्दों में और सुन्दरता के साथ। "अर्थ अमित अति आखर थोरे"। रास-वर्णन कितना मधुर और मनोहर है।

नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली॥
मृदुल मधुर टंकार ताल झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि करतारन की।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की॥
साँवरे पिय के संग नृतत यों ब्रज की बाला॥
जनु घनमंडल मंजुल खेलति दामिनिमाला॥

पदों में प्रसाद गुण का भी अच्छा स्थान है।

नव मरकत मनि स्याम कनक मनिगन ब्रजबाला।
वृन्दावन को रीझि मनो पहिराई माला॥

काव्य का बाह्य रूप सजाने में श्री नन्ददासजी का कौशल दर्शनीय है। वस्तूत्प्रेक्षा का सुन्दर आरोप है। [illegible] अलंकारों का [illegible] और [illegible] का [illegible] प्रवाह है। ऐसे

[illegible]

के स्थलों में यह कथा और भी अधिक [illegible] हो जाता है।

१ पदयोजना

या वन की वर बानक या वन ही वन आवै।
सेस महेस सुरेस गनेसहु पार न पावै॥
× × ×
वैठे पुनि तिहि पुलिनहि परमानन्द भयौ है।
छबिलिन अपनो छादन-छवि सुविछाय दयौ है॥

२ अनुप्रास

हे चन्दन, दुखदन्दन सब की जरन जुड़ावहु।
नँदनन्दन, जगवन्दन चन्दन हमहि बतावहु॥
कोमल किरन अरुन मानो वन व्याप रही यों।
मनसिज खेल्यो फाग घुमड़ घुरि रह्यो गुलाल ज्यों॥

३ रूपक—नव मरकत मणि श्याम, कनक मणिगण ब्रजवाला।
४ उत्प्रेक्षा—वृन्दावन को रीझि मनो पहिराई माला॥

इसके अतिरिक्त अन्य अलकार भी सुन्दर रीति से सजाये गये हैं, पर स्थानाभाव से उन सबका वर्णन नहीं किया जा सकता।

छंद

समस्त ग्रन्थ रोला और दोहा छन्दों में लिखा गया है। रोला छन्द लिखने में नन्ददासजी को बहुत सफलता मिली है। भावों के अनुसार ही छन्द का प्रवाह है। किन्तु कहीं कहीं यति पर विचार नहीं किया गया। जैसे—

"मोहनलाल रसाल की लीला इनहीं सोहै"।

बहुत से पिंगल के आचार्यों का कथन है कि रोला में ११ और १३ मात्रा की यति से २४ मात्राएँ होनी चाहिए। इसके अनुसार नन्ददासजी की रचना में यतिभंग दोष आ जाता है, किन्तु बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" ने नागरी प्रचारिणी-पत्रिका में "रोला के लक्षण" शीर्षक लेख में सिद्ध कर दिया है कि—

"रोला छन्द में ग्यारह मात्राओं पर विरति होना आवश्यक नहीं है, पर यदि हो तो अच्छी बात है।" अतएव इस सिद्धान्त के अनुसार इस यति के सम्बन्ध में नन्ददासजी को निर्दोष मानते हैं।

अब नन्ददासजी की भाव-निरूपण शक्ति पर दृष्टि डालिए।

भाव विवेचन—

कवि के मनोवेगों के साथ प्रकृति का गहरा सम्बन्ध है। इसका एक कारण है। मनोवेग मनुष्य के अन्तःकरण में उत्पन्न होते हैं। उसके चारों ओर [illegible]—मनोवेगों की [illegible] नहीं रहती [illegible] पूर्ण [illegible] है। [illegible] कि मनुष्य का [illegible] और [illegible] मनोवेग द्वारा ही [illegible] होता है, [illegible] [illegible] न होगी। [illegible] मनोवेगों की [illegible] होती है। [illegible] और [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible]

रुनुक झुनुक पुनि भली भाँति सो प्रगट भई जब।
पिय के अँग-अँग सिमिट मिले हैं रसिक नयन तब॥

कितना स्पष्ट स्वाभाविक चित्र है। मानों हम स्वयं श्रीकृष्ण को ऐसी उत्सुक और ध्यानावस्थित दशा मे विचलित देखते है। गोपियों की नूपुरध्वनि सुनने के लिए उनके नेत्र और हृदय कानों के पास सिमट आये हो और जब नूपुर ध्वनि स्पष्ट हो जाती है तो उन्हे देखने के लिए श्रीकृष्ण का प्रत्येक अग आँखो से मिलना चाहता है। केवल इसी स्थल से हमें ज्ञात हो जाता है कि नन्ददासजी में साधारण से साधारण भावों के अनुसार मुख पर आई हुई मुद्रा को उसी समय पहचानने की कितनी विलक्षण शक्ति थी। यह थी नन्ददासजी की स्वभावोक्ति और उनका उच्चकोटि का भाव-प्रदर्शन!

प्रकृति-वर्णन

'स्वाभाविक भाव-प्रदर्शन' के अतिरिक्त 'प्रकृति' शब्द का एक मतलब और है। वह है वाह्य जगत का नैसर्गिक सौन्दर्य्य। अंग्रेजी में इसे 'नेचर पेन्टिङ्ग' (Nature Painting) कहते हैं। इसके पर्याय हिन्दी मे इसे 'प्रकृति-वर्णन' कहेंगे। यह प्रकृति-वर्णन कवि के वैयक्तिक सिद्धान्तो के अनुसार बदला करता है। अंग्रेजो में वर्डस्वर्थ (Wordsworth) का प्रकृति-वर्णन टेनीसन (Tennyson) के प्रकृति-वर्णन से सर्वथा भिन्न है। उसका कारण यह है कि वर्डस्वर्थ ने प्रकृति को सजीव मानकर अपनी सहचरी समझा

है, किन्तु टैनीसन ने प्रकृति को मानवीय विचारों के चित्र के लिए केवल चित्रपट समझा है। उसने प्रकृति का अस्तित्व हृदय के विविध विचारों के समयानुकूल प्रदर्शन के लिए ही माना है। हिन्दी के प्राचीन कवियों का भी प्रकृति के लिए अन्ततः यही विचार था। वियोग में उनकी प्रकृति वियोगिनी बनकर रोती थी और संयोग में उनकी प्रकृति में हर्ष के चिन्ह नजर आते थे। यद्यपि यहाँ-वहाँ इस सिद्धान्त के कुछ प्रतिवाद अवश्य देखने में आते हैं पर मुख्यतः यह स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन कवि टैनीसन की भाँति प्रकृति को अपने भावों ही के रंग में रँगते थे।

नन्ददासजी के प्रकृति-वर्णन पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से हम उसे तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं —

(१) प्रकृति का शुद्ध [illegible] साधारण [illegible]।

(२) आगामी घटनाओं के [illegible] के अनुरूप प्रकृति का रूप-प्रदर्शन।

(३) केवल अलंकार के रूप में लाने के लिए ही प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रयोग।

यहाँ हम प्रथम प्रकार के प्रकृति-वर्णन पर विचार करते हैं। इस प्रकार के वर्णन में हमें प्रकृति का [illegible] दृष्टिगोचर होता है जिसका स्वाभाविक सुन्दर [illegible] और [illegible]

को आनन्द देनेवाला है। प्रकृति के प्रत्येक अङ्ग मे हम स्त्री के वाह्य सौन्दर्य्य की झलक पाते ''। इस प्रकार के वर्णन में कवि की रचना-शैली सीधी और केवल भाव-व्यञ्जक होती है ऊपरी सजावट और बनावट पर कवि का ध्यान कम रहता है। वह वर्णन करता है केवल सजीव सौंदर्य्य का और वह भी सीधे शब्दों में। नन्ददासजी का इस प्रकार का वर्णन यह है —

कुसुम धूरि धूमरी कुञ्ज मधुकरनि पुञ्ज जहँ।
ऐसेहु रस आवेस लटकि कीनो प्रवेस तहँ।
नव पल्लव की सैनी अति सुखदैनी सरसे।
सुँदर सुमन ससि निरखत अति आनँद हिय वरसे।

दूसरे प्रकार के वर्णन में नन्ददासजी प्रकृति का रूप इस भाँति वर्णन करते हैं कि आगे होनेवाले कार्यों की तीव्रता बढती है। अथवा यो कहिए कि उनमे उद्दीपन होता है। जिस प्रकार नाटक में शृंगार कथानक की सरसता, रगमच के दृश्य में उपवन, राज्य-प्रासाद या चन्द्र-दर्शन के होने से और भी वढ जाती है। उसी प्रकार कथानक का वेग और भी तीव्र करने के लिए नन्ददासजी ने प्रकृति का सहारा लेकर कथानक के अनुकूल ही वायुमण्डल की सृष्टि कर दी है। प्रथम अध्याय में कृष्ण की मुरली की ध्वनि को अधिक जादूभरी और प्रभावशालिनी बनाने के लिए कवि ने शरद् की निस्तब्ध रात्रि का सहारा लिया है। प्रकृति यहाँ उद्दीपन-विभाव का काम करती है। देखिये —

कोमल किरन अरुन मानो बन ब्याप रही यों ।
मनसिज खेल्यो फागि घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों ॥
फटिक छटा सी किरन कुंज रंध्रन जब आई ।
मानहु बितन बितान सुदेस तनाव तनाई ॥
मन्दमन्द चल चारु चन्द्रमा अति छवि पाई ।
झाँकत है जनो रमारमण पिय कौतुक आई ।
तब लीनी कर कमल जोगमाया सी मुरली । इत्यादि ।

यहाँ कविता के चित्र के लिए प्रकृति ने सचमुच ही चित्रपट का रूप ले लिया है ।

नन्ददासजी के तृतीय प्रकार के प्रकृति-वर्णन में कोई विशेषता नहीं है। यह तत्कालीन हिन्दी कवियों के बहुत [illegible] है। पर यह ध्यान में रखना उचित होगा कि नन्ददास ने जो कुछ लिखा, अपनी प्रतिभा के ज़ोर से लिखा। प्रकृति के भिन्न भिन्न रूपों का प्रयोग केवल अलङ्कार लाने के वास्ते उन्होंने किया अवश्य है, पर बहुत कम। कारण यह है कि वे वास्तव में अलङ्कार के दास ऐसे नहीं थे, जितने भाव के। अन्यत्र ऐसे वर्णन जहाँ कहीं भी आये हैं, यदि उनमें अलङ्कार है, तो भाव का भी सर्वथा अभाव नहीं है। वे लिखते हैं —

[illegible] कुमुदसमाज [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] ॥

यहाँ माला टूटने का भाव इतना जबर्दस्त है कि अलंकार की लगाम से ही वह रुक सकता है। और अलंकार भी इतनी बढ़िया रीति से 'फिट' हुआ है कि वह भाव की सुन्दरता को और भी अधिक परिवर्द्धित कर नेत्र के आगे चित्र-रूप में आ खड़ा होता है। यह कविवर नन्ददास के प्रकृति-वर्णन की प्रतिभा का स्वरूप है।

अब हम रास-पञ्चाध्यायी की कुछ विशेषताओं पर विचार कर यह लेख समाप्त करेंगे।

विशेषताएँ

कुछ विद्वानों का कथन है कि रास-पञ्चाध्यायी एक स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थ नहीं है। नन्ददासजी ने श्रीमद्‌भागवत का भाषा में जो अनुवाद किया था उसीके एक हिस्से का रूप रास पञ्चाध्यायी है। हमें अभी इस बात पर बहस नहीं करनी है कि नन्ददासजी ने वास्तव में श्रीमद्‌भागवत का अनुवाद किया था या नहीं—सम्भव है किया हो, और न भी किया हो। हमें तो केवल यह विचार करना है कि रास-पञ्चाध्यायी एक स्वतन्त्र रचना है अथवा नहीं। जब हम पचाध्यायी को गहरी दृष्टि से देखते हैं तो पता चलता है कि वह एक स्वतन्त्र रचना है। इसके कई कारण हैं। पहला तो यह है कि कवि ने आरम्भ में श्रीशुकदेवजी का शिखनख-वर्णन करते हुए बड़ा अच्छा मंगलाचरण लिखा है। यदि यह रचना

श्रीमद्भागवत की होती तो इसके आरम्भ में मंगलाचरण लिखा ही नहीं जाता।

दूसरा कारण स्वयं नन्ददासजी लिखते हैं कि उनके एक रसिक मित्र ने यह कथा लिखने के लिए उनसे अनुरोध किया था।

तीसरा कारण यह है कि कथानक का प्रवाह एक ही वेग से आगे बढ़ता जाता है। उसका सम्बन्ध अन्य किसी कथानक से है भी नहीं। श्रीमद्भागवत के 'रास' प्रकरण में तो लिखा है कि चीर-हरण के समय श्रीकृष्ण ने गोपियों को वचन दिया था कि वे शरदऋतु में इसका [illegible] रास-लीला से देंगे, पर नन्ददास जी की पञ्चाध्यायी में इसका कहीं [illegible] नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि यह एक स्वतन्त्र रचना है, जो अन्य कथाओं की छाया से रहित है।

एक कारण और है। अन्त में नन्ददासजी इस पञ्चाध्यायी को इस प्रकार समाप्त करते हैं, मानो वे एक पूर्ण ग्रंथ की समाप्ति कर रहे हैं —

> [illegible] ।
> नन्ददास [illegible] ॥

इससे इस बात से यही [illegible] होता है कि [illegible]

यह रचना स्वतन्त्र रूप से लिखी है, इसका सम्बन्ध अन्य किसी ग्रन्थ की रचना से नहीं है।

दूसरी विशेषता है—इसकी भाषा। ब्रजभाषा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप यदि हम कहीं पा सकते हैं तो वह यह पञ्चाध्यायी ही है। भाषा का प्रवाह बहुत ही स्वाभाविक और सरस है। हम आजाद के शब्दों में इनके लिए भी कह सकते हैं कि "इनके अल्फाज़ मोती की तरह रेशम पर ढलकते हुए चले आते हैं।" शब्दों का विकृत रूप कहीं भी देखने में नहीं आता। सभी शब्द यथास्थान इस प्रकार सजे हुए हैं, मानों किसी ने रत्नों को जड़ दिया हो। सचमुच नन्ददास 'जड़िया' थे।

> हे अवनी नवनीत चोर चितचोर हमारे।
> राखे कितहुँ दुराय बता देउ प्रानपियारे॥

तीसरा गुण है इनके अनुप्रास की विशेषता। नन्ददासजी की रचना में अनुप्रास इस तरह स्वाभाविक रीति से चला आता है, मानो इनके शब्द-भण्डार में अनुप्रासयुक्त शब्दों के अतिरिक्त और कोई शब्द ही नहीं था। अनुप्रास भी इस तरह आया है कि उससे भावों की लेश-मात्र भी क्षति नहीं होती। इसी में कवि की प्रतिभा का परिचय है।

> जो रज अज सिव खोजत जोजत जोगी जन हिय।
> सो रज वन्दन करन लगीं सिर धरन लगीं तिय॥

इनकी रचना का चौथा गुण है चित्र-शक्ति। नन्ददासजी जिस वस्तु का वर्णन करते हैं, वह वर्णन इतना यथार्थ और स्वाभाविक होता है कि उसका चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है।

> सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजत भारी,
> हियो सरोवर रसभरि चलि मनो उमँगि पनारी।

इन शब्दों के प्रवाह में 'पनारी' के तीव्र गमन का चित्र है।

रचना का पाँचवाँ गुण है ईश्वरोन्मुख प्रेम। प्रत्येक शृङ्गार-स्थल पर ईश्वर के प्रति भक्तिभाव की भी अभिव्यक्ति होती है। गोपिकाओं के विहार और गर्व का मतलब नन्ददासजी ने अन्तिम दो पंक्तियों में बड़ी सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है।

> निपट निकट घट में जो अन्तरजामी स्वामी।
> विषै विदूषित इन्द्री पकरि सकैं नहिं तामी॥

रचना का छठाँ गुण है उसके शब्दों का चुनाव। नन्द-दास जी ऐसे उपयुक्त शब्दों का चयन करते हैं, जो सर्वथा कविता के भाव-व्यञ्जक हैं —

> कुल महकन मालती चारु चम्पक चितचोरन।
> नव नागर सुगार किये भ्रमर झकोरन॥

यहाँ 'महकन' 'सुगार' और 'झकोरन' शब्द कितने उपयुक्त हैं! इन शब्दों के पर्यायवाची शब्द इन शब्दों की समता ब्रजभाषा में कोई नहीं।

रासपञ्चाध्यायी में गुण बहुत अधिक और दोष 'यदि हैं भी तो' बहुत कम हैं। हजारों गुणों के सामने दो-एक दोष छिप भी जाते हैं। एक स्थान पर एक-ही शब्द और एक ही भाव की पुनरुक्ति होने से काव्य का सौष्ठव नष्ट हो गया है —

बालकुँ अर पौगण्ड **धर्मरुचि** लिये ललित तन।
धर्मी नित्य किसोर .कन्ह मोहत सब को मन॥

यहाँ 'धर्म-रुचि' और 'धर्मी-एक' ही भाव के द्योतक होने से काव्य की सुन्दरता को खराब कर देते है।

एक स्थान पर उपमा का बहुत बुरा स्वरूप दृष्टिगत् होता है —

अधर सुधा के लोभ भई हम दासि तुम्हारी।
जो लुब्धिन पदकमल, चचला कमला नारी॥

कहीं-कहीं शब्द तथा वाक्य-रचना निम्न कोटि की हो गई है —

भ्रू विलसत जु निभूत जगत जगमग रहि जित तित।
जो लक्ष्मी निज रूप रहत चरनन सेवत नित॥

यहाँ विभूति का विलसता और लक्ष्मी का चरण-सेवा करने का सयोग कितना अस्पष्ट है!

इन छोटे-मोटे दोषों से काव्य की महत्ता में अन्तर नहीं आ सकता। माधुर्य की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में रास-पंचाध्यायी एक ही रचना नजर आती है। महाकवि तुलसी और सूर चाहे और बातों में नन्ददासजी से बाजी मार ले जायँ, पर माधुर्य में नन्ददासजी अद्वितीय हैं। यदि तुलसी की कविता भागीरथी-सी और सूर की पदावली यमुना के सदृश है तो नन्ददास की मधुर कविता सरस्वती के समान होकर कविता त्रिवेणी की पूर्ति करती है।

—रामकुमार वर्मा